

खंड II

प्रारंभिक भारत में इतिहास लेखन

समय रेखा

इतिहास-पुराण परम्परा

दान-स्तुति ऋचाएँ

गाथा एवं *नरशंसी*

रैभी

आख्यान

महाकाव्य

जैन *पौमचरियम*

बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा

काव्य और *चरित*

अभिलेख

प्रशस्ति

राजतरंगिणी

एक शाही दम्पति द्वारा महात्मा बुद्ध के दर्शन, भरहुत *स्तूप*, भरहुत; प्रारंभिक द्वितीय शताब्दी बी सी ई, बलुआ पत्थर – फ़्रीअर गैलरी ऑफ़ आर्ट – DSC05134.JPG

लेखकः Daderot; फरवरी 2013; क्रिएटिव कॉमन्स CCO 1.0 यूनिवर्सल पब्लिक डोमन डेडीकेशन

साभारः फ़्रीअर गैलरी ऑफ आर्ट, वाशिंगटन डी सी, यू एस ए में प्रदर्शित

स्रोतः https://commons.wikimedia.org/wiki/File:A_Royal_ Couple_Visits_the_ Buddha,_from_ railing_ of_the_ Bharhut_ Stupa,_Shunga_ dynasty,_early_ 2nd_century_ BC,_Bharhut,_ Madhya_ Pradesh,_India,_sandstone_-Freer_Gallery_of_Art_-_DSC05134.JPG

इकाई 2 मिथक, *दान-स्तुति, गाथा, आख्यान* और महाकाव्य तथा *इतिहास-पुराण* परम्परा की ओर संक्रमण*

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 *इतिहास-पुराण* परम्परा

2.3 अंतर्बद्ध इतिहासः *दान-स्तुति* ऋचाएँ, *नरशंसी* और *आख्यान*

2.3.1 *दान-स्तुति* ऋचाएँ

2.3.2 *गाथा* और *नरशंसी*

2.3.3 *रैभी*

2.3.4 *आख्यान*

2.4 महाकाव्य

2.4.1 *महाभारत*

2.4.2 *रामायण*

2.5 *पुराण*

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.9 संदर्भ ग्रंथ

2.10 शैक्षणिक वीडियो

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपः

- अंतर्बद्ध ऐतिहासिक परम्परा को समझ पाएँगे,
- अंतर्निहित इतिहासों के रूपों, विशेषकर *दान-स्तुति, गाथा, आख्यान,* आदि, को पहचान सकेंगे,
- *महाभारत* व *रामायण* के संदर्भ में महाकाव्य परम्परा के महत्व को रेखांकित कर पाएँगे, और
- *पुराणों* के रूप में अतंतः *इतिहास-पुराण* परम्परा की ओर संक्रमण को परिभाषित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

सामान्यतः जिसे स्थापित इतिहास की विधा के रूप में परिभाषित किया जाता है वह भले ही भारत में मौजूद न रही हो किंतु यहाँ ऐसे कई ग्रंथ मौजूद रहे हैं जिनमें इतिहास की चेतना प्रतिबिंबित होती है। इस इकाई में हम भारतीय उपमहाद्वीप के प्राचीनतम साहित्य में से कुछ पर विचार करेंगे और यह जानेंगे कि कैसे यह न केवल अतीत की पुनर्रचना हेतु उपयोग में लाया जा सकता है बल्कि भारतीय सभ्यता में निहित एक तरह के अतीत के बोध को भी प्रकट करता है। भारत का सबसे प्राचीन साहित्य है – *ऋग, साम, यजुर* और *अथर्ववेद*। इसके अतिरिक्त *सूत्र* साहित्य तथा *पुराण* भी प्राचीन

* डॉ. शुचि दयाल, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भारतीयों में निहित अतीत की चेतना का पता लगाने के प्रयास में प्रासंगिक सिद्ध हुए हैं। जिस तरह अतीत को दर्ज किया गया है या इस तरह के ऐतिहासिक लेखन की उपस्थिति प्रारम्भिक भारतीय समाज की प्रकृति हेतु अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। लेकिन ऐतिहासिक चेतना क्या है? कोई समाज जो इतिहास का बोध प्रकट करता है, अतीत तथा वर्तमान दोनों की चेतना प्रदर्शित करता है, वह ऐतिहासिक चेतना धारण करने का संकेत करता है। ऐसे समाज अतीत का लेखा-जोखा रखते हैं। हो सकता है कुछ समाजों ने कभी भी अतीत की घटनाओं को दर्ज न किया हो या ऐतिहासिक परम्परा को धारण न किया हो। तथापि इस तरह के इतिहास.विहीन समाज पूरी तरह से इतिहास की चेतना से विहीन नहीं होते हैं। इसका सरल सा अर्थ होता है कि इस तरह के समाजों ने ऐतिहासिक चेतना का इस तरह की अवधारणाओं के रूप में विकास किया जो साक्षर समाजों से भिन्न थीं। विभिन्न समाज अतीत को भिन्न-भिन्न तरीकों से निरूपित करते हैं। प्राचीन भारत इसी तरह का एक उदाहरण है।

अतः हम प्रारम्भ से ऐतिहासिक चेतना की मौजूदगी को चिह्नित करने से शुरू करते हैं जब प्राचीन ग्रंथों को प्रथम बार रचा गया था।

2.2 *इतिहास-पुराण* परम्परा

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसका *इतिहास-पुराण* परम्परा से संबंधित होना है। यह पारिभाषिक शब्द अतीत से सम्बंधित परम्पराओं से जुड़ा है। इतिहास का शाब्दिक अर्थ है 'वास्तव में ऐसा था'। *पुराण* का अर्थ होता है जो प्राचीन है और जिसमें ऐसी घटनाएँ और कथाएँ शामिल हैं जिन्हें प्राचीन काल में घटित माना जाता है। *अथर्ववेद* तथा *शतपथ ब्राह्मण* में इतिहास तथा *पुराण* का उल्लेख आता है। इस सह-प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द का अर्थ उससे है जिसे अतीत में घटित माना जाता है तथा जिसका उल्लेख ***ब्राह्मणों*** और ***उपनिषदों*** में है। पहली सहस्राब्दी सी ई तक इस शब्द का प्रयोग किसी देवता पर विशेष केंद्रित मिथकों और अनुष्ठानों को समाहित करने वाले पंथीय ग्रंथों (*पुराणों*) के लिए किया जाने लगा। ज्ञान के इस स्वरूप को पाँचवे ***वेद*** की प्रतिष्ठा प्रदान की गई, संभवतः इसे दैवीय स्वीकृति प्रदान करने के लिए। यद्यपि इसके दैवीय रचना होने का दावा करने के प्रयास नहीं हुए।

प्राचीन ग्रंथों में ऐतिहासिक चेतना को दो बिंदु कोटिबद्ध करते हैं:

1) यह अंतर्बद्ध स्वरूप में था। चूँकि यह ग्रंथ के व्यापक ढाँचे में अंतर्बद्ध था अतः इसका आवरण हटाने की आवश्यकता थी। उदाहरणों में शामिल हैं उत्पत्ति के मिथक, *दान-स्तुति* ऋचाएँ, प्राचीन वंशक्रमों की वंशावलियाँ।

2) इनका मुख्यतः आनुष्ठानिक ग्रंथों में बार-बार उल्लेख है। आनुष्ठानिक ग्रंथों में इन्हें अंतर्बद्ध करने का उद्देश्य इनको स्वीकृति प्रदान करना और इनकी निरंतरता को सुनिश्चित करना था।

जब इन अंतर्बद्ध स्वरूपों में सामाजिक पूर्वधारणाएँ तथा वर्तमान के लिए आदर्श आचार समाविष्ट होते हैं इन्हें अतीत की स्मृति के रूप में समझा जा सकता है। कालांतर में अंतर्बद्ध स्वरूप आनुष्ठानिक संदर्भों से मुक्त हो गए। अधिक मूर्त इतिहास का रूप लेते हुए इन्होंने *चरितों, प्रशस्तियों, वंशावलियों* और अभिलेखों का स्वरूप ग्रहण किया। यह स्पष्ट रूप से मान्यताओं वाले इतिहास से अधिक सुपरिभाषित इतिहास की ओर परिवर्तन था।

2.3 अंतर्बद्ध इतिहासः *दान-स्तुति ऋचाएँ, नरशंसी* और *आख्यान*

इतिहास के अंतर्बद्ध स्वरूपों को समझने के लिए हमें *वेदों* से शुरू करना होगा। इसी समय *इतिहास-पुराण* परम्परा का आरंभ हुआ। वैदिक ग्रंथ अनुष्ठानों का वर्णन, व्याख्या तथा भाष्य करने वाले मंत्रों और रचनाओं का संकलन हैं तथा इनका उद्देश्य व्यापक सामाजिक सरोकारों को प्रतिबिंबित करना नहीं है। *वेद* चार हैं: *ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद* तथा *अथर्ववेद*। इनमें *ऋग्वेद सर्वाधिक* प्राचीन है। जिस काल में *ऋग्वेद* की रचना हुई वह काल लगभग 1500 से 1000 सी ई माना जाता है। इसमें 10 *मंडल* या पुस्तकें हैं। इसके कुछ भाग पुराने हैं तो कुछ अपेक्षाकृत नए हैं। उदाहरणार्थ, पहला,

आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ *मंडल* दूसरे से सातवें *मंडलों* से बाद के हैं। *साम, यजुर* तथा *अथर्ववेद* के साथ *ब्राह्मण*, ***आरण्यक*** तथा *उपनिषद्* (लगभग 1000-500 बी सी ई) उत्तर-वैदिक साहित्य में शामिल हैं।

वैदिक साहित्य वंश-आधारित समाज को प्रदर्शित करता है जो स्वयं को *ऋग्वेद*-कालीन अपेक्षाकृत समतापूर्ण व्यवस्था से उत्तर-वैदिक काल के पदसोपानबद्ध ढाँचे की ओर संक्रमित कर रहा था। ऋग्वैदिक समाज अपनी प्रकृति में पशुचारक और कृषि-चरवाहा किस्म का था जो उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर में बसा हुआ था। यह सिंधु तथा सरस्वती के बीच का क्षेत्र था। क्रमिक रूप से इनका पूर्व की ओर विस्थापन हुआ और वैदिक जन गंगा-यमुना के **दोआब** में बस गए। यह समाज अधिकाधिक कृषि को अपनाता गया और पशुचारण पीछे छूटता गया। ऋग्वैदिक मुखिया अब तक जो अपने कबीले का संरक्षक-मात्र था उत्तर-वैदिक काल में राजा के रूप में उदित हुआ। वह ऐसा व्यक्ति था जिसे यज्ञ अनुष्ठानों की एक श्रृंखला, जैसे *अभिषेक, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय,* इत्यादि, के माध्यम से विशिष्ट दर्जा प्रदान किया जाता था। धीरे-धीरे *ब्राह्मणों* द्वारा राजा को भगवान प्रजापति से जोड़ा जाने लगा और वे उसे एक दैवीय प्रतिष्ठा प्रदान करने लगे। बदले में *ब्राह्मण,* जो अनुष्ठानों के ज्ञाता थे, क्षत्रियों (योद्धा मुखियाओं) से दान पाते थे। इस प्रकार दल के राजा के रूप में क्षत्रिय की प्रतिष्ठा को वैधता मिलती थी और उसे स्वर्ग में स्थान पाने की संभावना का विश्वास दिलाया जाता था तथा सत्ता, शक्ति, क्षेत्र और श्रम के ऊपर नियंत्रण का आशीर्वाद दिया जाता था।

परस्परता का यह बंधन *यजमान* (यज्ञ का आयोजक) और यज्ञ के अनुष्ठान को संपन्न कराने वाले पुरोहित को घनिष्ठ बनाता था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, राजा प्रतिष्ठा, वैधता, सत्ता और शक्ति पाता था तथा पुरोहित *दान* (उपहार) और *दक्षिणा* (यज्ञ का भुगतान) प्राप्त करता था। जो सबसे अधिक दान देता उसकी सबसे श्रेष्ठ योद्धा के रूप में प्रशंसा की जाती थी। जिन राजाओं ने आरंभिक ग्रंथों में यज्ञ के अनुष्ठानों को संपन्न किया था, उनका बाद के ग्रंथों में उदाहरण दिया गया। इस तरह अतीत में पलट कर देखने की झलक इससे मिलती है। *दान स्तुतियाँ, नरशंसियाँ* और *गाथाएँ,* जो वीरों की प्रशंसा में लिखी गई कविताएँ हैं, इस तरह के सैन्य अभियानों और प्रशंसा-गानों को अपने में समाहित किए हुए हैं।

2.3.1 *दान-स्तुति ऋचाएँ*

दान-स्तुति ऋचाएँ ऋग्वेद के कई भागों में बिखरी हुई हैं। *ऋग्वेद* के आठवें *मंडल* में इस तरह की सबसे अधिक ऋचाएँ हैं। ये कण्व ब्राह्मणों के परिवार से संबंधित हैं। कण्वों का संबंध बाद के ग्रंथों में *अंगिरसों* से किया गया है जो भृगुओं के साथ मिलकर अतीत की घटनाओं के बखान के संरक्षकों के रूप में जाने जाते हैं। *ऋग्वेद* के आनुष्ठानिक और धार्मिक मंत्रों के बीच प्रविष्ट कराई गई हम ऐसी राजकीय प्रशस्तियाँ पाते हैं जो इन मुखियाओं की भव्य उदारता को याद करती हैं। कालांतर में *गाथाएँ, नरशंसियाँ* और *आख्यान* भी नज़र आने लगे।

रोमिला थापर के अनुसार, दान देने के कृत्य के यशोगान को उस चीज़ के अभिलेखन के रूप में समझा जा सकता है जैसा घटित होने के विश्वास का किया जाता था। पुरोहित मुखिया के अतीत और वर्तमान की उपलब्धियों का उससे प्राप्त दान के साथ में बखान करता था। ये वीरतापूर्ण कृत्य प्रतिद्वंद्वी वंशों तथा मुखियाओं पर विजयों या *आर्य* और *दासों* के बीच संघर्षों के रूप में होते थे। पुरोहित द्वारा राजा की उदारता की प्रशंसा में रचित श्लोक राजा की प्रतिष्ठा को वैधता प्रदान करते थे। राजा के इन कृत्यों को याद रखने का उद्देश्य था कि जब किसी बाद की अवधि में इनको दोहराया जाएगा तो पुरोहित उतनी ही मात्रा में, यदि अधिक नहीं, दान प्राप्त करे। यह सामग्री आनुष्ठानिक ग्रंथों में क्यों अंतर्बद्ध की गई थी? थापर का विश्वास है कि इस तरह अंतर्बद्ध करना इस कृत्य को चिरस्मरणीय बनाता था। इनका साध्य था वर्तमान के लिए अतीत से अनुमोदन प्राप्त करना। राजाओं को पुराने राजाओं से जोड़ा जाता था और इस भाँति उनकी स्थिति को वैधता प्राप्त होती थी। क्रमिक रूप से *दक्षिणा* (यज्ञ हेतु पारितोषक) राजा तथा पुरोहित के बीच मौजूद घनिष्ठता को अभिव्यक्त करने लगी। पुरोहित को संपत्ति का दान दिया जा सकता था जिसमें गायें, घोड़े, ऊँट, रथ, बैलगाड़ी, वस्त्र, धन संग्रह, स्वर्ण, दासियाँ, इत्यादि शामिल होते थे। बाद में अतीत के राजाओं को उनकी इस महानता के लिए याद किया जाता रहा। उदाहरण के लिए, *राजसूय* यज्ञ से पहले पूर्व में अभिषिक्त राजाओं

की सूची का पाठ किया जाता था जिनमें से कुछ इन यज्ञों के यजमान रहे थे। बाद के *ब्राह्मण* ग्रंथों में भी पुराने राजाओं का नाम लिया जाता रहा, यद्यपि भाषा और अनुष्ठानों में बदलाव आ चुका था।

2.3.2 *गाथा* और *नरशंसी*

गाथा और *नरशंसी*, जो पहली बार *ऋग्वेद* में उदित हुए थे, साहित्य की प्रवाहपूर्ण सामग्री के रूप में बने रहे जो ऐतिहासिक प्रकृति की साहित्यिक विधा की ओर संकेत करते हैं। *गाथा* और *नरशंसी* दोनों को ही दैवीय ज्ञान के रूप में नहीं देखा जाता था और इन्हें मानवीय रचनाएँ माना जाता था। इन्हें धार्मिक गीतों से अलग समझा जाता था। वी. एस. पाठक के अनुसार, '*ऋग्वेद* में राजसी प्रशस्तियों, *गाथाओं* तथा *नरशंसियों* का संदर्भ स्वयं में ऐतिहासिक रचनाओं की मौखिक परम्परा के अस्तित्व का सुदृढ़ संकेत देता है जिसने कभी-कभी निश्चित और लिखित धार्मिक परम्परा को प्रभावित किया' (पाठक 1966)।

यह संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण अंतर्बद्ध इतिहास की प्रासंगिकता को स्थापित करने हेतु दिया गया है जो, रोमिला थापर के अनुसार, अक्सर वंश-आधारित समाजों में पाया जाता है। उनके अनुसार अंतर्बद्ध इतिहास भले ही समुचित रूप से इतिहास न हो किंतु यह एक प्रकार की अतीत के प्रति चेतना को प्रकट करता है जो ऐतिहासिक चेतना के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

2.3.3 *रैभी*

रैभियाँ (धार्मिक गीत), *गाथाएँ* और *नरशंसियाँ दान-स्तुति* मंत्रों के समान ही हैं। *गाथाओं* को *वेदों* में बाद में जोड़ा गया। मूल रूप से *गाथा* शब्द का सामान्य अर्थ गीत से था। बाद में इन्हें साहित्यिक रचनाओं की विधा में गिना जाने लगा। *गाथाओं* के रचयिता *ब्राह्मण* थे, विशेष रूप से कण्व *ब्राह्मण*। *दान-स्तुति* के मंत्रों का उद्देश्य वीरतापूर्ण कृत्यों का यशोगान था। अब इन *गाथाओं* में राजा की यज्ञ (जैसे अश्वमेध) के निष्पादन तथा पुरोहितों को दी गई उदारतापूर्ण *दक्षिणा*, बिना उसके वीरतापूर्ण कृत्यों को ध्यान में रखे, हेतु प्रशंसा की जाने लगी। यहाँ भी पूर्व-उदाहरणों पर बल दिया गया था। कुछ यज्ञ-अनुष्ठान कई दिनों तक साथ में चलते थे और इनके बखान के सस्वर पाठ में कवि को प्रदत्त उपहार का अंतर्निहित उल्लेख होता था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि *गाथाओं* में संरक्षणदाताओं द्वारा उच्च प्रतिष्ठा प्राप्ति का गुणगान किया जाता था जो, उदाहरण के लिए, शूद्र भी रहा हो सकता था जिसके ब्राह्मणत्व को अब स्वीकृति मिल गई होती थी।

बाद के साहित्य में, विशेषकर इन अनुष्ठानों पर भाष्यों, *सूत्र* ग्रंथों में, इन वीरों को पितृ (पूर्वजों) का स्थान दिया गया। यह इसलिए किया गया क्योंकि वे अतीत से संबंध रखते थे। वैदिक युग के समय में ही नरशंसी के कई अर्थ निकलने लगे थे। इसका अर्थ था 'मनुष्यों की प्रशंसा' या सरल रूप में 'मनुष्यों द्वारा रचित प्रशस्तियाँ'। दस *नरशंसियों* (वीर-प्रशंसा के एक समूह) का पाठ अनुष्ठान के एक विशेष मौके पर किया जाता था। इनमें से अधिकांश वीरता के कृत्य पर उतना बल नहीं देती हैं जितना कि उच्च स्थान की प्राप्ति पर, जैसे एक *शूद्र* पुत्र द्वारा सफलतापूर्वक ब्राह्मणत्व का दावा या शुनःशेप का उच्चस्थ विश्वामित्र के कुल में शामिल किया जाना। इनमें से कुछ का उल्लेख *ऋग्वेद* में था किंतु अब इन्हें कथाओं का आधार प्रदान किया गया ताकि पूर्वोदाहरण दिए जा सकें और 'स्मृति को ताज़ा' किया जा सके। इन सुसाध्य माध्यमों से उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करने का महत्व बाद के ग्रंथों में उजागर होता है। *नरशंसियों* को विस्तृत यज्ञ अनुष्ठानों में शामिल कर लिया गया। इनका संबंध राजाओं, उनके वास स्थानों और *जन* के साथ उनके संबंधों, पुरोहितों तथा यज्ञ के स्थान के संदर्भों से था। उदाहरण के लिए, सतनिक सत्रजित ने *अश्वमेध* यज्ञ का निष्पादन किया तो चेदि के राजा से घोड़ा ले लिए जाने का उल्लेख आता है। इस प्रकार पहले किए गए यज्ञ के निष्पादन को याद किया गया है। उपर्युक्त सभी विधाएँ अतीत के व्यक्तित्वों और घटनाओं का संदर्भ देती हैं। इनके उल्लेख का कार्य इन्हें भविष्य के समय में याद रखे जाने के उद्देश्य से किया जाता था। *राजसूय* यज्ञ के दौरान उन महत्वपूर्ण ब्राह्मणों का उल्लेख किया जाता था जिन्होंने अतीत में महत्वपूर्ण राजाओं के लिए इन यज्ञों का निष्पादन किया था। इसी प्रकार, *अश्वमेध* यज्ञ से पहले उन सभी राजाओं का नामोच्चारण किया जाता था जिनका अभिषेक हुआ था और जिन्होंने *अश्वमेध* यज्ञ का निष्पादन किया था। इस प्रकार, 'इस तरह एक प्रयास किया गया था प्रथमतः इस तरह के नामों और उनकी कथाओं की

ऐतिहासिकता के दावे को कुछ आधार प्रदान करने का; दूसरा उन्हें अनुष्ठानों के भीतर प्रतिष्ठित कर उनको सहेजे रखे जाने को सुनिश्चित करने का; और तीसरा, कथाओं का अनुष्ठान के भाग के रूप में पाठ कर एक कल्पित अतीत को सुनियोजित रूप से वर्तमान से जोड़ने का' (थापर 2013: 126-27)। इस संदर्भ में अनुष्ठानों का प्रसार पुरोहितों की आजीविका, प्रतिष्ठा और प्राधिकार को सुनिश्चित करने के लिए किया जाता था और ऐतिहासिक परम्परा, भले ही यह कितनी ही बिखरी हुई थी, को काम में लाया जाता था।

2.3.4 *आख्यान*

आख्यान राजाओं और वीरों के अभिनंदन में रचे गए थे। ये यज्ञ-अनुष्ठानों के दौरान उच्चारित किए जाने वाली कथाएँ या बखान हैं। ये संभवतः ऋग्वैदिक काल में भी अस्तित्व में थे। यद्यपि ये *नरशंसियों* की तरह ही थे किंतु इनका संकेतार्थ भिन्न है। यह *अश्वमेध* और *राजसूय* यज्ञ के दौरान होने वाले अनुष्ठानों की विशेषता थी। इस समय तक दान का दक्षिणा में रूपांतरण हो चुका था। *आख्यान* का एक उदाहरण *देवासुरम्* है जो देवताओं और असुरों के बीच युद्ध का वर्णन करता है। इसका उल्लेख *ब्राह्मण* साहित्य में किया गया है। अन्य उदाहरण *अश्वमेध* यज्ञ के *परिप्लव* चक्र (दस दिनों के चक्र में एक वर्ष तक कथाओं को दोहराना) के दौरान *आख्यानों* का पाठ है। इसमें से अधिकांश का संबंध राजाओं की प्रशंसा से है। 'इनमें बीते युगों के उन राजाओं का उल्लेख किया जाता था जिन्होंने *अश्वमेध* यज्ञ किया था और इस प्रकार यह चक्र अतीत को याद करने का एक माध्यम बन गया'। *इतिहास* और *पुराण* के साथ इसके घनिष्ठ संबंध का साक्ष्य इस तथ्य में निहित है कि परिप्लव में आख्यानों के दस दिवसीय चक्र में आठवाँ दिन *इतिहास* के लिए और नौवाँ दिन *पुराण* के लिए निर्धारित था। साहित्यिक व्यक्तियों का एक विशेष वर्ग उदित हुआ जो *आख्यान* साहित्य में महारत रखता था। सामान्य रूप से *आख्यान* का तात्पर्य ऐतिहासिक बयान से है। कालांतर में *आख्यान इतिहास-पुराण* परम्परा में आत्मसात हो गए।

मौखिक परम्परा के विभिन्न भागों की विशेषता इसकी अंतःतत्व की नम्यता और इसमें निरंतर होने वाला दोहराव थी। *महाभारत*, जो *इतिहास* परम्परा से संबंध रखता है, में कई *गाथाएँ* शामिल हैं। कभी-कभी *गाथा* और *नरशंसी* को संयुक्त रूप से प्रस्तुत किया गया था और कई बार उन्हें *इतिहास* और *पुराणों* के बीच प्रविष्ट करा दिया गया था। *महाभारत* स्वयं में एक महान् *आख्यान* होने के साथ ही कई *आख्यानों* को समाहित किए हुए है। इसी तरह, ऋषि वाल्मीकि ने राम की महानता से संबंध रखने वाली *गाथाओं* और *आख्यानों* को संकलित कर रामायण की रचना की। पुराणों में *आख्यान* और पूरक-*आख्यान* (supplementary *Akhyanas*) महत्वपूर्ण घटक थे। उन्हें वंश के प्रारूप में मिश्रित और व्यवस्थित कर *वंशानुचरित* के रूप में उपयोग में लाया गया।

उत्तर-वैदिक काल के अंत तक *इतिहास-पुराण* की व्यापक परम्परा प्रबल हो चुकी थी। यह एक *सर्व-समावेशी* श्रेणी थी जिसमें कुछ खास ग्रंथ शामिल थे। शुरुआती तौर पर वीरता-पूर्ण कृत्य महत्वपूर्ण थे पर धीरे-धीरे यज्ञों पर ध्यान केंद्रित होता गया, हालांकि दान का महत्व बना रहा था। थापर का कथन है कि वंश-आधारित समाज अतीत के महत्व को तो पहचानते थे किंतु अतीत को इतिहास के रूप में व्यवस्थित करना महत्वपूर्ण नहीं समझते थे। महत्वपूर्ण यह था कि इस ऐतिहासिक परम्परा में वे भाग शामिल थे जो स्वयं इन प्रारंभिक समाजों द्वारा रचे गए साहित्य में अतीत के रूप में कल्पित किए गए थे। अनुष्ठान के माध्यम से या किसी धार्मिक संदर्भ में अंतर्बद्ध होने के माध्यम से अतीत को व्यवस्थित और स्मृति-बद्ध किया गया था। अतीत से केवल वही दर्ज किया गया और स्मृति में रखा गया जो उन लोगों की सत्ता की ओर संकेत करता था जो अपनी संपत्ति में वृद्धि करने के लिए धावे बोलते थे तथा बाद में यज्ञ के यजमान के रूप में स्थापित हुए। इन वृत्तांतों में भिन्नता है किंतु सभी मामलों में इनके गुणों का निर्धारण ब्राह्मणों ने किया। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच पृथकता ने ब्राह्मणों के लिए क्षत्रियों के कृत्यों को बढ़ावा देना संभव बनाया, विशेषकर एक ही वंश में पुराने समय से नए समय में सत्ता के अस्तित्व की निरंतरता की ओर संकेत करने वाले दावों को।

बोध प्रश्न-1

1) चर्चा कीजिए कि किस प्रकार *दान-स्तुति* ऋचाएँ, *नरशंसी* और *आख्यान* ऐतिहासिक चेतना को प्रकट करते थे?

.....

.....

.....

2) *इतिहास-पुराण* परम्परा क्या है?

.....

.....

.....

2.4 महाकाव्य

महाकाव्य प्रारंभिक रूप से मौखिक रचनाएँ थीं जिन्होंने बाद के समय में एक कथा-वृत्तांत के माध्यम से सम्मिश्रित और संयोजित रूप ले लिया। यही कारण है कि उनकी तिथि का निर्धारण करना समस्यापूर्ण है। वह उस समय से पूर्व की घटनाओं का वर्णन करती हैं जब उनकी रचना की गई थी। इनमें अंतर्बद्ध इतिहास के तत्व भी शामिल हैं। पुनः इस पर बल देना महत्वपूर्ण होगा कि ये इतिहास के मान्य अर्थ के अनुसार इतिहास नहीं हैं किंतु इनमें उसके बारे में वृत्तांत शामिल हैं जिनके विषय में यह माना जाता था कि ऐसा घटित हुआ था। भारत में दो मुख्य महाकाव्य *महाभारत* और *रामायण* हैं। दोनों में ही कई क्षेपक शामिल हैं, अतः इन्हें किसी एक ही लेखक की कृति नहीं माना जा सकता है। *महाभारत* में आख्यानात्मक खंड एक वंश-आधारित समाज की पृष्ठभूमि की ओर संकेत करते हैं किंतु बाद में जोड़े गए उपदेशात्मक क्षेपक राज्य-व्यवस्था को प्रतिबिंबित करते हैं। महाकाव्यों में शामिल कविताओं के मूल को *ऋग्वेद* की *दान-स्तुति* ऋचाओं तथा वैदिक साहित्य की *गाथाओं, नरशंसियों* और *आख्यानों* तक ढूंढा जा सकता है। इसमें पुराने समयों के ऐसे वृत्तांत हैं जिनका परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए फिर से बखान किया गया था। इनके केंद्र में राजा और राजपुरुष हैं, दोनों ही महाकाव्य कथाओं या कहानियों के वाचन से विकसित हुए हैं। *रामायण* के पुराने स्वरूप को राम-कथा तथा *महाभारत* को *भारत* कहा जाता था। दोनों ही स्थान-विशेष से जुड़े हैं तथा दो मुख्य वंशों के आस-पास घूमते हैं। इस प्रकार, *महाभारत* के केंद्र में पश्चिमी गंगा घाटी तथा ऐला वंश है। *रामायण* के केंद्र में मध्य गंगा घाटी तथा इक्ष्वाकु वंश है। *महाभारत* परिवर्तन के तीन चरणों से गुज़रा था – 'मूल रचना का साहित्यिक पाठ व्यास ने रचा था जिसमें बाद के संपादकों, संभवतः भृगुओं, ने क्षेपकों को जोड़ा। अंतिम चरण राजत्व तथा विष्णु की उपासना का प्रचार करता है' (थापर 2013: 147)।

महाभारत में 18 *पर्व* (अध्याय) शामिल हैं। इनमें से कुछ *पर्व* जहाँ महाकाव्य का केंद्रीय भाग बनाते हैं वहीं कई अन्य क्षेपक हैं। यह महाकाव्य कौरवों और पांडवों के बीच क्षेत्र-विशेष पर नियंत्रण तथा राजनीतिक प्रभुता हेतु संघर्ष का वर्णन करता है। दोनों ही पुरु के वंशज हैं। पांडवों के साथ संबंध रखने वाला विशेष चरित्र वृष्णि कुल के कृष्ण का है। मूल रूप से मौखिक तथा सूत/चारण परम्परा का हिस्सा रहे *महाभारत* का जन्मेजय द्वारा मैमीस वन में किए जा रहे *सर्प-यज्ञ* में पाठ किया गया था। इसका केंद्रीय भाग नायकों की वंश-क्रम व्यवस्था वाले एक पशुचारक-कृषि समाज (*सभापर्व*) से एक सुस्पष्ट कृषि-समाज तथा गंगा घाटी में स्थापित राजतंत्रीय राज-व्यवस्था (*शांतिपर्व*) की ओर संक्रमण को दर्शाता है। राजतंत्रीय राज्यों की ओर क्रमिक संक्रमण के साथ वंश-आधारित समाज का सामाजिक चरित्र भी बदल गया था। नायकों की मृत्यु के साथ वंश-आधारित व्यवस्था का भी अंत हो गया था।

महाकाव्यों में राजव्यवस्थाएँ पीछे की ओर मुखियाओं के युग पर नज़र डालती हैं। इसका उद्देश्य 'कल्पित वंशावलियों के संबंध' के माध्यम से राजव्यवस्था को वैधता तथा मान्यता प्रदान करना है। यह अतीत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बड़े और छोटे पुत्रों के उत्तराधिकार से संबंधित विषयों तथा अयोग्यता के प्रश्नों को वैधता और मान्यता प्रदान करता है। *महाभारत* में युधिष्ठिर और दुर्योधन के बीच उत्तराधिकार का विवाद और *रामायण* में राम और भरत के बीच जेष्ठाधिकार से संबंधित समस्या इसे ही प्रकट करती है। व्यास का प्रयास यह था कि घटनाओं को इस प्रकार से छाँटा जाए और

नया रूप दिया जाए कि वह ब्राह्मणीय आचार-शास्त्र को महत्व प्रदान करें। साथ ही इससे यह तथ्य भी रेखांकित होता है कि *महाभारत* यद्यपि मूल रूप से सूतों/चारणों द्वारा रचा गया था किंतु बाद में इसे ब्राह्मणों द्वारा आत्मसात किया गया जिन्होंने इसे लिखित स्वरूप प्रदान किया। बाद के क्षेपक वे हैं जो राम को दैवीय स्वरूप प्रदान करने, राजा के कर्तव्य तथा आचरण-संबंधी अंश, सृष्टि-संबंधी विमर्श तथा सदाचार, इत्यादि का वर्णन करते हैं। ऐसा नव उदित राजतंत्रों तथा नव धार्मिक पंथों की आवश्यकता से तालमेल बैठाने के लिए किया गया था।

इनमें हुए कुछ महत्वपूर्ण विकासक्रम *ऋग्वेद* के पुराने समय के संघर्षों (*दशराजन्* या दस राजाओं का युद्ध) की कहानी को चिह्नित करते हैं जिसे अत्यधिक विस्तार दे दिया गया था। एक स्थानीय संघर्ष को एक महायुद्ध के रूप में विस्तार दिया गया था। लोगों के आप्रवासन के साथ-साथ जैसे-जैसे कहानियों ने आकार लिया मैत्रियाँ तथा पहचानें भी बदल गई होंगी। केंद्रीय वृत्तांत में कई कहानियाँ जोड़ दी गईं या कुछ को हटा दिया गया होगा। ये ग्रंथ तभी एक स्थिर और ठोस रूप ले पाए जब इन्हें लिख लिया गया और तब भी इनमें कुछ जोड़ा जा सकता था। केवल उसे ही बनाए रखा गया जिसे इन ग्रंथों को अद्यतन करने वालों द्वारा उचित समझा गया था। इस प्रकार इनमें ऐतिहासिक चेतना के तत्व को शामिल किया गया। 'बिना यह ध्यान रखे कि जिसका वर्णन किया जा रहा है वह तथ्यपरक है या नहीं इनमें अतीत का बोध है और अतीत-संबंधी ज्ञान की परम्परा का निर्वाह जो बाद में अतीत की पुनर्रचना हेतु महत्वपूर्ण होता है' (थापर 2013: 149)। अब हम दोनों महाकाव्यों *महाभारत* और *रामायण* का कुछ अधिक विस्तार से अध्ययन करेंगे।

2.4.1 *महाभारत*

इस महाकाव्य में उन समाजों का वर्णन है जिनका उल्लेख *ऋग्वेद* में किया गया था और साथ ही *वेदों* में अज्ञात तथा उसके बाद के काल के वंशों और रीतियों का भी इसमें समावेश किया गया है। इसमें दो मुख्य वंशों में से एक *चंद्रवंश* को देखा जा सकता है जिन्हें मनु की संतान इड़ा का वंशज माना जाता है। *महाभारत चंद्रवंश* के कुल के चारों ओर घूमता है तो *रामायण सूर्यवंश* के कुल के। इसकी केंद्रीय कथा कौरवों तथा पांडवों के मध्य युद्ध से निर्मित है जो पुरु के वंशज थे। वैदिक साहित्य में वंशों तथा व्यक्तियों के संबंध में बिखरे हुए संदर्भ हैं। कुछ वंश जो *चंद्रवंश* की मुख्य शाखा के लिए दूरस्थ थे उन्हें भी मुख्य वंश शाखाओं के साथ शामिल कर लिया गया जब युद्ध घटित हुआ। यह संभव है कि दूरस्थ शाखाएँ और उनकी कहानियाँ पृथक सूत/चारण परम्परा का हिस्सा रही हों।

पुरु ययाति के पाँच पुत्रों में सबसे छोटे थे। जेष्ठाधिकार के सिद्धांत के हिसाब से राज्य का अधिकार यदु को मिलना चाहिए था तथापि उनका उत्तराधिकार छीनकर पुरु को राजा बनाया गया। इससे यह संकेत मिलता है कि इस समय भी जेष्ठाधिकार का नियम ठोस रूप नहीं ले सका था। ज्येष्ठाधिकार के नियमों का एक बार फिर पालन नहीं होता जब अर्जुन और सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का पुत्र कुरु राज्य का उत्तराधिकारी बनता है। इस कथा में कई जिज्ञासापरक पहलू हैं जिनकी व्याख्या करना आसान नहीं है। उदाहरण के लिए, जेष्ठाधिकार के नियम से विचलन, कैसे धृतराष्ट्र और पांडु मुख्य वंश-क्रम से संबंधित न होते हुए भी सिंहासन के प्रतिस्पर्धी दावेदार बन गए, इत्यादि। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वंश आधारित समाजों में जहाँ नातेदारी के बंधन महत्वपूर्ण होते हैं इस तरह के विकासक्रम घटित हो सकते हैं।

महाभारत में ऐसे कई हिस्से हैं जो वंश-आधारित व्यवस्था का संकेत करते हैं। पांडवों को द्यूत क्रीड़ा में भाग लेने की चुनौती दिया जाना और महाकाव्य के कथानक में वरिष्ठ नातेदारों की भूमिका को महत्वपूर्ण समझा गया था जो उस सभा के महत्व की ओर इशारा करता है जहाँ वरिष्ठ नातेदार एकत्र होते हैं और निर्णय लेते हैं। महाकाव्य के उपदेशात्मक हिस्सों (*शांतिपर्व*) में सुपरिभाषित राजतंत्रीय प्रणाली का प्रचलन दिखाई देता है। राजा को ऐसे अधिकार प्रदान किए गए हैं जो उसे अपने अन्य नातेदारों से ऊपर रखते हैं। उसके पास बल प्रयोग तथा कर लगाने का अधिकार है। अब नातेदारों का अधिक संदर्भ नहीं दिया गया है किंतु *राजा* और उसकी *प्रजा* के बीच का विभाजन अधिक सुस्पष्ट नज़र आता है। *जातियों* का प्रचलन इसमें एक निश्चित भूमिका निभाता है। पुराने समय का क्षत्रिय महत्वपूर्ण बना रहता है किंतु अब उसके कर्तव्यों में परिवर्तन आ गया होता है। पुराने समय में वह अपने वंश के सम्मान की रक्षा कर रहा था और उसके वीरतापूर्ण कृत्यों को ध्यान

में रखा गया था। अब उसके कर्तव्यों में बाद के ग्रंथों में सूचीबद्ध कार्य शामिल हैं, जैसे दान करना, यज्ञ के आयोजन को व्यवस्थित करना तथा वेदों का अध्ययन करना। यह सूची काफ़ी लंबी है और यह कहना पर्याप्त होगा कि इस महाकाव्य का कथानक दो प्रकार के समाजों के बीच संक्रमण को प्रदर्शित करता है। 'एक नया युग जो एक समाप्त हो गए युग पर दृष्टि डालता है। मुखियाओं की वीरतापूर्ण दुनिया मन्द पड़ चुकी थी तथा राजवंशों ने उच्च स्थान ग्रहण कर लिया था। किंतु ये राजवंश अब भी पुरानी दुनिया के वीरों से वैधता की आकांक्षा रखते थे और इन नायकों के सहयोगियों के रूप में नए देवता शामिल किए गए थे। अतः महाकाव्यों की निरंतरता की आवश्यकता बाद के समय में बनी रही' (थापर 1979: 627)।

2.4.2 *रामायण*

महाभारत की तरह *रामायण* भी मौखिक परम्परा का हिस्सा रही थी। इसको लिखित स्वरूप बाद के समय में प्रदान किया गया था। इसके कई संस्करण हैं। वाल्मीकि, जिन्होंने *रामायण* को लिखा था, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राचीन राम-कथा का प्रयोग किया था जो स्वयं कई बिखरी हुई कहानियों का संग्रह था। इस तरह की कथाओं से एक एकल कृति का सृजन हुआ। *महाभारत* की तरह ही *रामायण* में भी कई क्षेपक जोड़े गए हैं और इसलिए इसको तिथिबद्ध करना मुश्किल है। *रामायण* ऐसी गाथा है जो दो प्रकार के समाजों के बीच संघर्ष को प्रकट करती है: कोसल के राज्य और राक्षसों की दुनिया के बीच। इस महाकाव्य के नायक राम राजा दशरथ के सबसे जेष्ठ पुत्र हैं जो अयोध्या के शासक हैं। निकट के वन तपस्वियों के निवास स्थान हैं जिन्हें राक्षसों द्वारा प्रताड़ित किया जाता है। राम और उनके अनुज लक्ष्मण राक्षसों से वनों को मुक्त करने में ऋषियों की मदद करते हैं। बाद में वे पड़ोस के राज्य मिथिला की ओर बढ़ते हैं जहाँ राजा जनक अपनी पुत्री के लिए *स्वयंवर* का आयोजन कर रहे हैं और एकमात्र राम ही हैं जो इस शर्त को पूरा कर सकते हैं कि जो भी शिव के विशाल धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाएगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा। राम सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं जहाँ भविष्य के राजा के रूप में उनके राज्याभिषेक की घोषणा की जाती है। लेकिन, राम की विमाता कैकेयी अपनी दासी मंथरा के बहकावे पर इससे रूठ जाती हैं और दशरथ को उसे वे तीन वरदान प्रदान करने हेतु दबाव डालती हैं जिसका उन्होंने कैकेयी से पहले वादा किया था। वह यह माँग करती हैं कि राम की जगह उनके पुत्र भरत को राजा बनाया जाना चाहिए तथा राम को 14 वर्षों के लिए वनवास में भेज दिया जाना चाहिए। वचन से बंधे होने के कारण दशरथ को इसे स्वीकारना पड़ता है। राम, सीता और लक्ष्मण के साथ वन में जाना स्वीकारते हैं। कुछ समय बाद ही शक्तिशाली '*राक्षस*' रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिया जाता है। इस तरह कष्ट में घिरे हुए राम की सहायता एक वानर मित्र हनुमान द्वारा की जाती है। राम और रावण के बीच एक युद्ध होता है जिसमें रावण मारा जाता है। राम, सीता और लक्ष्मण अपना वनवास पूरा करने के पश्चात् अयोध्या लौटते हैं जहाँ राम को राजा के रूप में राजमुकुट पहनाया जाता है।

विष्णु के अवतार के रूप में राम की भूमिका, सीता का वन-गमन, तत्पश्चात् वाल्मीकि के आश्रम में निवास, उनके पुत्रों लव और कुश का जन्म, राम के द्वारा किए जा रहे *अश्वमेध* यज्ञ के दौरान उनके पुत्रों द्वारा *रामायण* का सस्वर पाठ, सीता का वापस लौटना और पुनः अग्नि परीक्षा से गुज़रने हेतु उन पर दबाव और अपनी निर्दोषता को सिद्ध करते हुए सीता का धरती माँ की गोद में समा जाने के निर्णय से संबंध रखने वाले अध्यायों को *रामायण* में बाद के समय में जोड़ा गया था।

'*राक्षस* ' एक भिन्न संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो राज्यों की कृषि-आधारित तथा स्थायी रूप से बसे समाजों के साथ द्वंद्व में है। वन न केवल '*राक्षसों*' के निवास स्थान हैं बल्कि एक भिन्न प्रकार की सत्ता – नैतिक सत्ता – को प्रतिबिंबित करने वाले ऋषियों के निवास स्थान भी हैं। इस ग्रंथ का भौगोलिक क्षितिज मध्य गंगा के मैदानों से मध्य भारत तक फैला हुआ है। इस महाकाव्य का उद्देश्य प्राचीन समाजों को याद करना है जो किसी न किसी रूप में वर्तमान में भी प्रचलित हैं और महाकाव्य नए स्वरूप में हुए इसके परिवर्तन को दर्ज करता है। यह समाज व्यापक परिवर्तनों से गुजर रहा है। नए राज्यों का उदय हो रहा था या एक नए राज्य को वैधता की आवश्यकता थी जिसके लिए राजा को दैवीय रूप में चित्रित किया जाना आवश्यक था। अतीत से मान्यता प्राप्त करना इस प्रकार आवश्यक बन गया था।

जहाँ तक *रामायण* की ऐतिहासिकता का प्रश्न है यहाँ हम इसके जैन संस्करण विमलसूरि के *पौमचरियम* की चर्चा करेंगे। यह संस्करण वाल्मीकि *रामायण* और बौद्ध *दशरथजातक* के साथ सामान्य युग की शुरुआत में स्थापित हो चुका था। *पौमचरियम* प्राकृत में है तथा इसकी तिथि सामान्य युग की शुरुआती शताब्दी है। इस जैन ग्रंथ के अनुसार *रामायण* के अन्य दो संस्करण ऐतिहासिकता का अभाव रखते हैं। रोमिला थापर के अनुसार यह वक्तव्य एक प्रकार से ऐतिहासिक परम्परा का स्वीकरण है। उनका कहना है कि प्रत्येक संस्करण एक वक्तव्य प्रकट करता है, वक्तव्य जो अपनी प्रकृति में ऐतिहासिक हैं क्योंकि 'वे समय के किसी बिंदु पर समाज के एक विशेष हिस्से की सामाजिक मान्यताओं को अभिव्यक्त करते हैं' (थापर 2013: 212)। इस ग्रंथ में बिंबिसार का उल्लेख है जो राजगृह में शासन कर रहा है। बिंबिसार महावीर का निकटस्थ समकालीन है, इस प्रकार इसके चरित्रों की ऐतिहासिकता की ओर संकेत करता है। *पौमचरियम* इस गाथा के पुनर्लेखन का प्रयास करता है, '*राक्षसों*' को बुरे के रूप में वर्णित ना करते हुए तथा अपनी गाथा की ऐतिहासिक प्रमाणिकता का दावा करते हुए। इसके केंद्र में विंध्य क्षेत्र है तथा सभी चरित्र समर्पित जैन अनुयायी हैं। *विद्याधरों* के दो समूहों – 'राक्षसों' तथा 'वानरों' – की वंशावली इस ग्रंथ के प्रारंभिक हिस्से का निर्माण करती है। जिन चार वंश समूहों का उल्लेख किया गया है उनमें विद्याधर सबसे महत्वपूर्ण हैं। वे विद्या धारण करने वाले हैं अतः उन्हें *विद्याधर* कहा गया है। मेघवाहन नामक एक व्यक्ति है जो *विद्याधरों* में से एक है। वह कुछ परिस्थितियों के कारण लंका की ओर प्रस्थान कर जाता है। वहाँ वह *'राक्षसवंश'* की स्थापना करता है। अन्य *विद्याधर* राजकुमार का निर्वासन वानरद्वीप में है तथा वहाँ किष्किंधा में वह राज्य की स्थापना करता है। *'वानरवंश'* और *'राक्षसवंश'* आपस में संबंधित हैं। वाल्मीकि *रामायण* से एक दिलचस्प भिन्नता यह है कि जो *'वानरवंश'* से संबंधित हैं वे 'वानर' नहीं हैं बल्कि 'वानर' वाला अलंकरण उनका मानक प्रतीक है। यह संघर्ष समान शक्तियों के बीच है। जहाँ तक गाथा का संबंध है जो दो वंश महत्वपूर्ण हैं उनमें से एक *हरिवंश* है जिससे जनक, जो सीता के पिता हैं, का संबंध है तथा दूसरा *आदित्यवंश* है जिसे इक्ष्वाकु भी कहा गया है तथा इसके कुछ नाम *रामायण* के समान ही हैं। इक्ष्वाकु राजाओं में से शुरुआती राजा सागर ने किसी *विद्याधर* राजकुमारी से विवाह किया था। रावण लगभग एक सार्वभौम विजेता तथा शासक है। वह जैन अनुयायी है और जैन मठों का संरक्षक है। दशरथ संन्यास ले लेते हैं और कैकेयी अपने पुत्र को राजा बनाना चाहती है। किंतु वह राम को वन जाने से मना करती है क्योंकि उसका उद्देश्य केवल अपने पुत्र को राजसिंहासन दिलवाना था। वनवास का क्षेत्र विंध्य में है जहाँ ऋषि आश्रमों की जगह जैन मठ हैं। राम और रावण के बीच का संघर्ष वाल्मीकि की *रामायण* जितना भीषण नहीं है क्योंकि दोनों एक पूर्वनिर्धारित संबंध रखते हैं। अंततः, दशरथ और राम दुनिया से संन्यास ले लेते हैं, सीता भिक्षुणी बन जाती हैं और जैन आचारों की विजय होती है। कुछ विशेष गुणों के कारण जैन *रामायण* अन्य संस्करणों के मुकाबले अधिक प्रामाणिकता का दावा कर सकती है। ऐतिहासिक राजा बिम्बिसार के साथ संबंध, अन्य संस्करणों को मनगढ़ंत कहकर उनकी भर्त्सना करना ऐतिहासिकता के तत्व की ओर संकेत करता है। रोमिला थापर कहती हैं, 'एकमात्र जैन संस्करण ही वह प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जिसे वह प्रमाणिक ऐतिहासिक विवरण घोषित करता है; अतः जिन पहलूओं के समर्थन का संकेत इसमें मिलता है वे अतीत-संबंधी अवधारणा के नज़रिए से महत्वपूर्ण हैं। इस गाथा के लिए ऐतिहासिकता का दावा अतीत के संबंध में एक नए चिंतन का संकेत करता है' (थापर 2013: 262)।

2.5 *पुराण*

सामान्य युग (Common Era) की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में *इतिहास-पुराण* की परम्परा का *पुराणों* के रूप में संकलन हुआ। इसने इतिहास को इस सीमा तक दर्ज किया है कि यह अंतर्बद्ध इतिहास से मूर्त इतिहास की ओर संक्रमण को निरूपित करता है। इसका संबंध चारण परम्परा से है जहाँ *सूत* तथा *मागध* इसके प्रारंभिक रचयिताओं में थे। बाद में इस परम्परा को ब्राह्मणों द्वारा अपना लिया गया जिन्होंने अतीत-संबंधी मौखिक जानकारी का उपयोग किया और अपने समय में मौजूद परिस्थितियों के संदर्भ में इसे लिखित रूप में दर्ज किया। प्रत्येक *पुराण* किसी देवता विशेष पर केंद्रित थी और वर्तमान और अतीत की एकीकृत विश्वदृष्टि उपलब्ध कराने के प्रयास का प्रतिनिधित्व करती थी। इसका *वंशानुचारित* वाला खंड सामान्य युग की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य तक सभी ज्ञात वंशों और राजवंशों की वंशावलियों का अभिलेखन करता है। यह *इतिहास* परम्परा के अभिकेंद्र में स्थित है। इसने पुराने समय के कई अंतर्बद्ध स्वरूप के इतिहासों तथा *कथाओं* और *आख्यानों* को स्वयं में समाहित

कर लिया। वंशावली-संबंधी खंडों ने न केवल अतीत को दर्ज करने का दावा किया बल्कि भविष्य में वंशीय शक्ति के दावों के लिए सारभूत तत्व बन गया। वे राजवंश जिनका सामान्य युग की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य तक *पुराणों* में उल्लेख है वे स्वीकृत क्षत्रिय वंशों के वंशज थे। कालांतर में ब्राह्मण और *व्रत-द्विज*, शूद्र तथा '*म्लेच्छ*' भी शासक वंशों में शामिल कर लिए गए।

गुप्तोत्तर काल में नए शासक परिवार वंशीय संबंधों पर निर्भर थे, उनके क्षत्रिय होने के दावों को पुष्ट करने वाली मनगढ़ंत वंशावलियों पर। विकसित हो रही कृषि अर्थव्यवस्था और विस्तारित होती राज्य व्यवस्था में हितधारक, जैसे भूस्वामी, दानदाता, कुल के मुखिया, शासक परिवार, सभी उच्च स्थान का दावा कर रहे थे क्योंकि उनको काफ़ी कुछ गंवाना पड़ता अगर किसान खेत को जोतने से इंकार कर देते। निम्न तबकों पर किसी भी भाँति उन लोगों की सेवा हेतु दबाव डालना था जिनकी राजनीतिक शक्ति का उत्थान हुआ था। *इतिहास-पुराण* परम्परा सामाजिक अवस्थिति को वैधता प्रदान करने के माध्यमों में से एक थी और इस हेतु *वंशानुचरित* वाले खंडों को सावधानीपूर्वक सहेजा जाना था। गुप्तोत्तर काल में नए शासक परिवार *सूर्यवंश* और *चंद्रवंश* के कुलों के साथ स्वयं का संबंध दिखाना चाहते थे जो उनकी प्रभावी उच्च अवस्थिति की आवश्यकता को रेखांकित करता है। संबंधों की यह इच्छा और इनको गढ़ पाने के सफल प्रयास, *वेदों* तथा महाकाव्यों में मौजूद सामग्री के *वंशावलियों* के रूप में सूत्रीकरण की ओर संकेत करते हैं। जो राजनीतिक सत्ता का दावा कर रहे थे उनका इतिहास इस *वंशावली* परम्परा में अंतर्बद्ध था। गुप्तोत्तर काल में केवल अनुष्ठान ही नहीं थे जिनका नए उदित होते राज्यों की वैधता सिद्ध करने के लिए उपयोग किया गया बल्कि शासक का इतिहास उपलब्ध कराना राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक विशेषता थी। इस प्रकार *वंशावली* एक उपयोगी ऐतिहासिक तथा राजनीतिक माध्यम के रूप में कार्य कर रही थी। जिन्होंने स्वयं को ऐतिहासिक परम्परा के वाहकों के रूप में स्थापित किया था वे राजनीतिक सत्ता से अपनी निकटता के प्रति सचेत थे। ब्राह्मण इस परम्परा के माध्यम से नए राजवंशों को वैधता प्रदान कर रहे थे। सामान्य युग की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य का काल विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं, शासकों और धार्मिक पंथों के बीच प्रतिस्पर्धा और संघर्ष का काल था।

बौद्ध धर्म और शैव व *भागवत्* संप्रदायों के बीच प्रतिस्पर्धा थी। जो *भागवत्* परम्परा का समर्थन करते थे, जैसे गुप्त, उन्हें उपयुक्त संरक्षणदाता माना जाता था। इस संदर्भ में एक अतीत गढ़ा गया जिसमें ऐतिहासिकता के दावों ने *वंशावलियों* का रूप ग्रहण किया। इस तथ्य का समर्थन कि इस काल में वंशावलियाँ महत्वपूर्ण थीं इनकी बढ़ती हुई आवृत्ति से होता है। इन *वंशावलियों* में एक तरह की ऐतिहासिक चेतना आबद्ध थी जो इस समय केवल बाहरी ढाँचे की तरह थी। इसने उत्तरोत्तर कालों में अभिलेखों, *चरितों* और *वंशावलियों* के रूप में ठोस स्वरूप ग्रहण किया।

बोध प्रश्न-2

1) *महाभारत* के संदर्भ में चर्चा कीजिए कि कैसे अतीत में पीछे झांकना और अतीत के समाजों को याद करना ऐतिहासिक चेतना को प्रकट करता है?

.....

.....

.....

2) *पौमचरियम* तथा इसकी ऐतिहासिकता की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

3) ऐतिहासिक परम्परा के निर्माण में वंशावलियों की भूमिका की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2.6 सारांश

जैसा कि विद्वानों ने प्रदर्शित किया है, किसी समाज को ऐतिहासिक या अनैतिहासिक के रूप में श्रेणीबद्ध करना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि समाज किस तरह अतीत को देखते हैं। इस इकाई में आपने यह जाना कि लगभग 1500-1000 बी सी ई तथा पुनः लगभग 1000 बी सी ई से 1300 सी ई के काल-खंडों के विभिन्न समयों में भारतीय समाज ने किस तरह से ऐतिहासिक चेतना को प्रदर्शित किया। इस चर्चा से यह स्पष्ट हो चुका है कि आज के समय में जिसे इतिहास के रूप में समझा जाता है उसका क्षेत्र सीमित है। यूरोप के बाहर के पूर्व-आधुनिक समाजों ने अतीत को विभिन्न तरीकों से समझने का प्रयास किया, विशेषकर रोमिला थापर जिसे 'स्वयं के अतीत को देखता हुआ अतीत' कहती हैं। हमने इतिहास के अंतर्बद्ध स्वरूपों के प्रारम्भ, और किस तरह यह एक अधिक मूर्त स्वरूप की ओर अग्रसर हुआ, को चिह्नित किया है जिसकी शुरुआत *पुराणों* से हुई और अंत *चरितों, वंशावलियों* और अभिलेखों में हुआ। अगली कुछ इकाइयों में हम यह देखेंगे कि कैसे आनुष्ठानिक ग्रंथों में इतिवृत्तों को स्थापित करने की आवश्यकता कम हो गई और कुछ नई विधाएँ अस्तित्व में आईं जो विशेष रूप से अतीत के बखान से संबंध रखती थीं। अगली इकाई में हम *श्रमण* परम्परा का अध्ययन करेंगे जो *इतिहास-पुराण* परम्परा का विकल्प थी।

2.7 शब्दावली

वेद	भारतीय उपमहाद्वीप का प्राचीनतम साहित्य। *वेद* चार हैं: *ऋग, साम, यजुर* तथा *अथर्ववेद*। *ऋग्वेद* की रचना लगभग 1500-1000 बी सी ई के काल में मानी जाती है और बाकी के तीन *वेद* लगभग 1000-800 बी सी ई में रचे गए माने जाते हैं
ब्राह्मण	यह गद्य-ग्रंथों का विपुल साहित्य है जिसमें धार्मिक विषय, विशेषकर यज्ञों के निष्पादन तथा अलग-अलग यज्ञों के अनुष्ठानों और आयोजनों के व्यावहारिक और रहस्यात्मक महत्व से संबंध रखते हैं
आरण्यक* और *उपनिषद	इनमें वनवासी ऋषियों और तपस्वियों द्वारा ईश्वर, दुनिया तथा मानवता के संबंध में रचे गए मंत्र हैं और इनमें प्राचीनतम भारतीय दर्शन का श्रेष्ठ भाग संकलित है
प्रशस्ति	किसी वस्तु या व्यक्ति को महत्व देते हुए एक प्रकार की श्रद्धा प्रकट करते हुए उसकी प्रशंसा में किया गया वाचन या लेखन
वंशानुक्रम	एक ही पूर्वज के सीधे वंशक्रम में

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 2.3 तथा इसके उप-भाग

2) देखें भाग 2.2 तथा इसके बाद के भाग

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 2.4.1

2) देखें उप-भाग 2.4.2

3) देखें भाग 2.5

2.9 संदर्भ ग्रंथ

पाठक, वी. एस., (1966) *एंशियेंट हिस्टॉरियंज़ ऑफ़ इंडियाः अ स्टडी इन हिस्टौरिकल बायोग्रफ़ीज* (*बाम्बेः* एशिया पब्लिशिंग हाउस).

थापर, रोमिला, (1979) 'द हिस्टॉरीयन एंड द एपिक', थापर, आर., (संपा.) (2000) *कल्चरल पास्ट्सः एसेज़ इन अर्ली इण्डियन हिस्ट्री* (दिल्लीः आक्स्फ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 613-629.

थापर, रोमिला, (1986) 'सोसायटी एंड हिस्टॉरिकल कॉन्सियशनेसः द इतिहास-पुराण ट्रेडिशन', एस. भट्टाचार्य और रोमिला थापर (संपा.), *सिचूएटिंग इंडियन हिस्ट्री* (दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 353-83.

थापर, रोमिला, (1995) 'हिस्टॉरिकल कॉन्सियशनेस इन अर्ली इण्डिया', थापर, आर., (संपा.) (2000) *कल्चरल पास्ट्सः एसेज़ इन अर्ली इण्डियन हिस्ट्री* (दिल्लीः ऑक्स्फ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 155-172.

थापर, रोमिला, (2013) *द पास्ट बीफ़ोर असः हिस्टॉरिकल ट्रेडिशंस ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इंडिया* नई दिल्लीः परमानेंट ब्लैक).

2.10 शैक्षणिक वीडियो

द कॉर्पस ऑफ़ इतिहास पुराण
https://www.youtube.com/watch?v=I7ASYbmdiEc

विन्येट्स ऑफ़ रामायण – पर्सपैक्टिव्स ऑफ़ ए हिस्टौरियन
https://www.youtube.com/watch?v=fsDsxO4krB4

कन्वर्सेशन्स विद इंडियाज़ एंशियेंट पास्ट
https://www.youtube.com/watch?v=Wsu1Jc3y_sM

द पास्ट बिफ़ोर असः हिस्टॉरिकल ट्रडिशंस ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=V3rR_x24S64

द पुराणाज़। जयपुर लिटरेचर फैस्टिवल
https://www.youtube.com/watch?v=rnlgJQSkfQc

किताबः देवतदत्त पट्टनायक ऑन महाभारत
https://www.youtube.com/watch?v=RmMHpGfU6Ww

इकाई 3 बौद्ध तथा जैन परम्पराएँ*

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जैन *पौमचरियम*

3.3 अतीत-संबंधी बौद्ध अवधारणा

3.4 बौद्ध ग्रंथ

3.5 ग्रंथ लेखक

3.6 बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा

- 3.6.1 *संघ* का आरम्भिक इतिहास
- 3.6.2 समय की अवधारणा
- 3.6.3 ऐतिहासिक विचार के चिह्न
- 3.6.4 श्रीलंका के पाली इतिवृत्त
- 3.6.5 बौद्ध जीवनियाँ

3.7 अन्य धारणाएँ

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.11 संदर्भ ग्रंथ

3.12 शैक्षणिक वीडियो

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इनके विषय में सीख पाएँगे:

- पौराणिक साहित्य से भिन्न अतीत की निर्मिति,
- *रामायण* का जैन प्राकृत संस्करण *पौमचरियम* जो दर्शाता है कि कैसे अतीत-संबंधी जैन निर्मिति को इस ग्रंथ के माध्यम से समझा जा सकता है,
- बौद्ध ग्रंथ जो ऐतिहासिक चेतना का प्रदर्शन करते हैं, और
- बौद्ध धर्म की अतीत की निर्मिति में *संघ* की केंद्रीय भूमिका।

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हम अतीत की पौराणिक निर्मिति के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। अन्य ऐसी परम्पराएँ हैं जो पूरी तरह से अतीत की पौराणिक निर्मितियों से भिन्न हैं, जैसे बौद्ध तथा जैन परम्पराएँ। उदाहरण के लिए, बौद्ध तथा जैन परम्पराएँ एक स्वीकृत कालक्रम तथा 'ऐतिहासिक विवरण के एक सुपरिभाषित विचारधारात्मक उद्देश्य' के प्रति सुस्पष्ट सरोकार व्यक्त करती हैं। इस प्रकार वे पौराणिक परम्पराओं का एक विकल्प पेश करती हैं। जैन विवरण पहली सहस्राब्दी सामान्य युग से संबंध रखते हैं। शैली समान होने पर भी वे घटनाओं तथा व्यक्तित्वों को अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। हम जैन

* डॉ. शुचि दयाल, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ऐतिहासिक परम्परा को समझने के लिए विमलसूरि के ग्रंथ *पौमचरियम* की चर्चा करेंगे। इसके पश्चात् हम विस्तार से बौद्ध परम्परा पर चर्चा करने की ओर अग्रसर होंगे।

3.2 जैन *पौमचरियम*

जैन ग्रंथ *पौमचरियम* प्राकृत में लिखा गया है। यह *रामायण* की कथा का एक भिन्न संस्करण है। इस ग्रंथ के लेखक विमलसूरि ने इसकी तिथि महावीर के 530 वर्ष बाद बतायी है। वहीं कुछ अन्य विद्वान इसकी तिथि सामान्य युग की प्रारंभिक शताब्दियों के कुछ बाद तय करते हैं। अन्य सबसे पुराने संस्करणों में से एक *पौमचरियम* का उपयोग जैन सदाचार की शिक्षा के लिए किया जाता था। यह राम की कथा का वर्णन करते हुए महाकाव्य-विपरीत स्वरूप ग्रहण करता है। यह कथा, जैसा कि विमलसूरि का दावा है, वही है जो महावीर ने इंद्रभूति को सुनायी थी, जिसे बाद में इंद्रभूति द्वारा अपने शिष्यों को सुनाया गया था। यह तथ्य कि इसका प्रथम पाठ किसी देवता या दिव्यपुरुष द्वारा किया गया था इस ग्रंथ के महत्व पर बल देने के लिए है। इस कथा को *राघवचरित* भी कहा गया है और यदा-कदा *पुराणम् आख्यानम्* भी कहा गया है। इस प्रकार यह ब्राह्मणीय शैली के समान ही है। लेकिन, कथानक तथा इसका मंतव्य भिन्न है।

विमलसूरि उस समय प्रचलन में रही कथाओं का यह कहकर खंडन करता है कि वे हास्यास्पद कहानियाँ और मिथ्यावचनों के अलावा कुछ भी नहीं हैं। वे तर्क तथा विश्वास के विपरीत हैं। अतः उसने कथा के इस संस्करण की रचना की जिसका उद्देश्य जो हुआ था उसका वास्तविक वर्णन करना है। उसने पुराने लेखन-कार्य का स्रोतों के रूप में प्रयोग किया है। लेकिन, वह उन संस्करणों पर प्रश्न चिह्न लगाता है और उनसे विपरीत मत प्रकट करता है जिनका उसने स्रोत-सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया है।

पौमचरियम प्राकृत में लिखा गया है न कि संस्कृत में। अतः इसकी पहुँच अधिक व्यापक थी। यह जैन परम्परा की शुरुआती पृष्ठभूमि को समाहित किए हुए है, जैसे पदार्थ-संबंधी ज्ञान, सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित कथाएँ व मिथक। *पुराणों* के समान ही यहाँ भी हम ब्रह्मांड के इतिहास, काल-चक्र तथा *तीर्थंकरों* की जीवनियाँ पाते हैं। इसके बाद मुख्य कुलों तथा उनकी वंशावलियों का विवरण आता है। रोमिला थापर का मानना है कि यही इसे महाकाव्यों तथा पौराणिक शैलियों के अंतर्क्षेत्र में स्थापित करता है।

राम की यह कथा मगध के क्षेत्र में शुरू होती है जिसकी राजधानी राजगृह है। उस समय का शासक श्रेणिक या बिंबिसार है। चूँकि बिंबिसार बुद्ध का समकालीन था और पौराणिक वंश-सूची में शामिल है यह उसकी ऐतिहासिकता की ओर संकेत करता है। राम कथा के उपलब्ध संस्करणों पर संदेह करते हुए बिंबिसार महावीर के एक शिष्य से इसके सही स्वरूप का वर्णन करने का आग्रह करता है। इस परिचर्चा से कुछ रुचिकर बिंदु उभर कर सामने आते हैं। पहला यह दिखाने का प्रयास है कि यद्यपि इस कथा का कुछ ऐतिहासिक आधार रहा है, मौजूदा संस्करणों में इसको जानबूझकर मिथ्यापूर्ण बनाया गया है। इसे इस तथ्य से भी बल मिलता है कि राजा श्रेणिक उस पर संदेह व्यक्त करता है जिस तरह से राक्षसों, विशेषकर रावण, का चित्रण किया गया है। साथ ही, वह इस कथा के अन्य पहलुओं पर भी प्रश्न खड़ा करता है। रोमिला थापर का यह विश्वास है कि यहाँ ऐतिहासिकता का विचार स्पष्टतः उद्घाटित और केंद्रीय है न कि अंतर्बद्ध। अतीत के प्रति इस तरह की अभिवृत्ति ***श्रमण*** मत-संप्रदायों में सामान्य तत्व थी।

यद्यपि *पौमचरियम* '*राक्षसों*' के प्रति अपने विवेचन में सहानुभूतिपूर्ण है इसे 'अन्य पक्ष' अर्थात '*राक्षसों*' के नज़रिए के रूप में नहीं देखा जा सकता है। तथापि यह वाल्मीकि *रामायण* में वर्णित '*राक्षसों*' का एक सहानुभूति-परक वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह ग्रंथ स्पष्ट करता है कि राक्षस कोई 'दुष्ट' मानव नहीं हैं बल्कि 'रक्षक' हैं, जो इस शब्द के धातु रूप 'रक्ष' यानी रक्षा करने से भी स्पष्ट होता है। इस कथा के उपलब्ध तत्कालीन संस्करणों को नए सिरे से लिखने के प्रयास में रावण को न तो दस सिरों वाले के रूप में दिखाने और न ही मांस भक्षण करने वाले के रूप में चित्रित करने का सचेत प्रयास नज़र आता है। '*राक्षसों*' को इस तरह दर्शाया गया है जैसे वे 'राक्षत्व' के रंग में रंगे जाने से पूर्व वास्तव में थे। *पौमचरियम* ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक होने का दावा करता है।

इसका विवरण *विद्याधरों* के देश के वर्णन से शुरू होता है। वे शब्दशः विद्या को धारण करने वाले थे। '*राक्षस*' और '*वानर*' दोनों ही *विद्याधरों* की श्रेणी में आते थे। आरंभिक अध्याय इन दोनों समूहों

की वंशावलियों की चर्चा करते हैं। इस ग्रंथ का ध्यान विंध्य क्षेत्र तथा आगे की ओर गोदावरी नदी के क्षेत्र पर केंद्रित है। सभी चरित्र समर्पित जैन हैं। वे हिंसा से दूर रहते हैं तथापि नायक, राजा और राजकुमार युद्ध में अपनी वीरता का प्रदर्शन करते हैं। वंशावली वाले खंड में चार विभिन्न समूहों की चर्चा की गई है: *इक्खग/इक्ष्वाकु, सोमवंश, विज्जहरन/विद्याधर* तथा *हरिवंश*। इन चारों में *विद्याधर* सबसे महत्वपूर्ण हैं। *विद्याधरों* में एक महत्वपूर्ण चरित्र मेघवाहन है। कुछ कठिनाइयों के कारण वह लंका की ओर प्रस्थान कर जाता है तथा वहाँ '*राक्षस*' वंश की स्थापना करता है। *विद्याधरों* का एक अन्य समूह '*वानर*'-वंश है जिसकी स्थापना एक *विद्याधर* राजकुमार ने की जो '*वानर*' द्वीप में निर्वासन में रह रहा था। उसने किष्किंधा में एक राज्य की स्थापना की। चूँकि उनकी पताका का चिह्न '*वानर*' था इसलिए उन्हें '*वानर*'-वंश कहते थे। *विद्याधरों* के ये दोनों समूह न केवल समय-समय पर लड़ते रहते थे बल्कि वैवाहिक और राजनीतिक संबंधों को साझा भी करते थे। दशरथ का संबंध *आदित्यवंश* या इक्ष्वाकु वंश से था। यह कथा रावण को एक *अर्द्ध-चक्रवर्तिन* अर्थात लगभग एक सार्वभौमिक शासक के रूप में दर्शाती है। यह बताया गया है कि उसने *भारतवर्ष* के बड़े हिस्से पर विजय प्राप्त की थी। उसे एक पवित्र जैन तथा जैन *विहारों* के संरक्षक के रूप में दर्शाया गया है। राम के साथ उसका संबंध अंतर्निहित रूप से प्रतिरोध का है जो जैन मत के अनुरूप ही है। राम आठवें वासुदेव हैं तथा 'रावण' आठवाँ प्रति-वासुदेव है। न केवल रावण एक मुख वाला है बल्कि वह उड़ भी सकता है। वाल्मीकि के *रामायण* की तुलना में रावण का सीता के साथ संबंध अधिक संवेदनशील प्रकृति का है और न कि 'आतंक' उत्पन्न करने वाले स्वरूप का। दशरथ जैन शिक्षाओं से प्रभावित होकर संसार का त्याग कर देते हैं, उनकी पत्नी कैकेयी यह वर माँगती हैं कि उनके पुत्र को सिंहासन पर बैठाया जाए। वाल्मीकि के रामायण की तुलना में कैकेयी केवल अपने पुत्र के लिए सिंहासन चाहती हैं, वह राम के वनगमन के लिए बल नहीं डालतीं। वनवास के दौरान राम अपना अधिकांश समय दरबारों में व्यतीत करते हैं न कि तपस्वियों की तरह जीवन बिता कर। राजत्व के आदर्श नियम इक्ष्वाकुओं तथा *'राक्षसों'* दोनों के लिए एक ही प्रकार के नज़र आते हैं। *पौमचरियम* ब्राह्मणों का वर्णन, अनुशासनहीनों, अपने यज्ञ में पशुओं का वध करने वालों तथा मिथ्यावाद का प्रचार करने वालों के रूप में करता है। स्पष्ट है, यह काव्य ब्राह्मणों या *वर्णाश्रम* धर्म की प्रतिष्ठा ऊँचा उठाने की कोशिश नहीं करता है। अंत में दशरथ और राम, दोनों, संसार का त्याग कर देते हैं और सीता एक भिक्षुणी बन जाती हैं। इस प्रकार जैन आचारशास्त्र को क्षत्रिय नैतिकता के ऊपर विजयी होते हुए दिखाया गया है।

यह महाकाव्य उन मुखियाओं पर केंद्रित है जो क्षेत्र, प्रतिष्ठा तथा अधिकारों के लिए एक-दूसरे के साथ संघर्षरत हैं। यह कथा प्रमुख ऐतिहासिक परिवर्तनों के काल में, जैसे राज्य के रूप में राज्य-व्यवस्था के नए स्वरूप का उदय या जब राज्यों को ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जो राजा में दैवीय तत्वों का निरूपण कर सकें, उस समय फिर से सूत्रबद्ध की जा रही थी। इस तरह का सूत्रीकरण अतीत से मान्यता की आकांक्षा रखता था और इस हेतु इस कथा को एक नया रूप प्रदान किया गया था। विभिन्न कुलों के बीच संघर्ष का उल्लेख *जातकों* तथा *महाभारत* और बाद में *पुराणों* में मिलता है। इस तरह के संदर्भ ऐतिहासिकता का निचोड़ स्वयं में समाहित रखते हैं।

ऐसे वंश जो यदुओं से उत्पन्न हुए थे अयोध्या पर आक्रमण से संबंधित थे। रावण का संबंध मेघवाहन से था जो एक चेदि रहा होगा। चेदि यदुवंश से संबंध रखते थे तथा बौद्ध स्रोतों में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। पौराणिक दंतकथाओं के अनुसार हैहयों का संबंध चेदियों से था और इस तरह चेदियों का संबंध मेघवाहन से था जिन्होंने अयोध्या पर आक्रमण किया था और जो अंततः पराजित हुए थे। *पौमचरियम* राम की ऐतिहासिकता से उतना सरोकार नहीं रखता है। यह अधिक महत्वपूर्ण घटनाओं, यानी विभिन्न वंशों के बीच संघर्ष जिनमें इक्ष्वाकु के वंशज यदुओं द्वारा अपने क्षेत्र पर किए गए आक्रमण का बदला ले रहे थे, का प्रतिनिधित्व करता है। चेदियों को नकारात्मक दर्शाया गया है किंतु वे एक सुपरिचित मानव समूह हैं जिनका एक सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्र पर अधिकार है और जो राजत्व की संस्था द्वारा शासित हैं। उन्हें मात्र कुछ अन्य 'भयंकर काल्पनिक जीवों' की तरह नहीं दर्शाया गया है जैसा कि *रामायण* में था या *जातक* कथाओं के पिशाचों अथवा चमत्कारी प्रेतों की तरह नहीं दिखाया गया है। *पौमचरियम* उन्हें समान भाव से चित्रित करता है और उनके वर्णन में इस भिन्नता ने इस कथानक में एक बदलाव की माँग को जन्म दिया होगा और इस तरह इस कथा का पुनर्लेखन हुआ होगा। इसका पुनर्लेखन उस समय में हुआ जब *गण-संघों* का रूपांतरण राजतंत्रों में हो रहा था।

पौमचरियम रामायण के ज्ञात संस्करणों की तीखी आलोचना करता है और एक अलग ही संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। स्पष्ट रूप से इस तरह का व्यवहार करने के लिए एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। संभवतः *पौमचरियम विद्याधरों* के वंश को वैध ठहराने की कोशिश कर रहा था। इसके अतिरिक्त वे राजसत्ताएँ जो सामान्य युग के शुरुआती समय में उभर रही थीं उन्हें भी वैधता की आवश्यकता थी। इनमें से बहुत से राज्य, जैसे पश्चिमी भारत में त्रैकूटक; बुंदेलखंड तथा त्रिपुरी में बोधि; विदर्भ में भोज तथा वाकाटक; दक्षिण कोसल तथा कलिंग में चेदि थे। चेदियों से संबंध इन सबके बीच आम था। सामान्य युग के प्रारंभिक काल में जैन धर्म इस क्षेत्र में प्रबल था। जैन राजकीय संरक्षण के आकांक्षी थे। बहुत से राजवंश अधिक स्थापित क्षत्रिय वंश के साथ वंशावली-गत संबंध स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। वे राजवंश जो हैहयों से उत्पत्ति का दावा कर रहे थे इस परम्परा के भार्गव संस्करण (वाल्मीकि *रामायण*) के विरोधी रहे होंगे। जैन संस्करण का स्वागत उनके द्वारा किया गया जो चेदि तथा मेघवाहन वंशों से संबंध का दावा कर रहे थे।

मगध, कलिंग, मथुरा, विदिशा तथा बुंदेलखंड के क्षेत्र और रीवा-क्षेत्र का गहरा जैन संबंध रहा है तथा इस प्रकार *पौमचरियम* का जैन संदर्भ उत्तर भारत में सुपरिचित था।

जैन संस्करण इस तथ्य के कारण ऐतिहासिकता का दावा करता है कि वह इस ग्रंथ को बिंबिसार के साथ जोड़ता है जो एक ऐतिहासिक राजा था। इसके अतिरिक्त *पौमचरियम* इस कथा के अन्य संस्करणों को मिथ्यावादी कहकर नकार देता है क्योंकि यह एकमात्र प्रामाणिक ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने का दावा करता है '... जिन तत्वों के समर्थन का इससे संकेत मिलता है वे अतीत-संबंधी एक विशेष दृष्टिकोण के विचार से महत्वपूर्ण हैं। इस कथा के लिए ऐतिहासिकता का दावा अतीत के प्रति एक नई चिंता को प्रकट करता है' (थापर 2017: 262)।

3.3 अतीत-संबंधी बौद्ध अवधारणा

प्रायः बौद्ध दस्तावेज़ ऐतिहासिक रुप से विश्वसनीय हैं। अपने सबसे शुरुआती विवरणों में अतीत की बौद्ध निर्मितियों में *इतिहास-पुराण* परम्परा के तत्व दिखायी पड़ते हैं। तदनंतर, बौद्ध धर्म तथा इसके घटकों के इतिहास लेखन में एक नज़र में आने वाला परिवर्तन है कि बौद्ध परम्परा में जिन व्यक्तियों और घटनाओं को प्रमुख स्थान दिया गया है वे *पुराणों* से भिन्न हैं क्योंकि राजसत्ता की प्रकृति, प्रतिपाद्य सामाजिक नैतिकता की प्रकृति और बौद्ध विचारधारा तथा राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं के बीच संबंध की परिकल्पना बिल्कुल भिन्न थी। वे ग्रंथ जिनसे बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा का निर्माण होता है इस प्रकार हैं:

1) पाली भाषा में लिखित *त्रिपिटक*

2) श्रीलंका के इतिवृत्त तथा बाद में लिखे गए उनके भाष्य

3) बुद्ध की जीवनियाँ

4) सामान्य युग की दूसरी शताब्दी में तिथिबद्ध किए गए तिब्बत तथा लद्दाख से प्राप्त इतिवृत्त

यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य बौद्ध धार्मिक सरोकारों से उपजा था, यद्यपि इसका राजसत्ता से संबंध व समाज पर चिंतन अधिक महत्वपूर्ण कारक थे। इतिहास के साथ अंतरापृष्ठ (interface) का संकेत न केवल इसमें मिलता है कि कौन से तथ्य को उद्धृत किया गया है, बल्कि कैसे वैधता का दावा किया जाता है भी इसमें प्रकट होता है। मत-सम्प्रदाय की सत्ता को बल प्रदान करने के लिए तथ्यपरक जानकारी को शामिल किया गया है। यह कई पंथीय इतिवृत्तों की विशेषता बन गया। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का संकेत विभिन्न प्रकार से मिलता है:

1) बुद्ध की जीवन लीला का वर्णन करने में जिसे तथ्यात्मक माना जाता था।

2) इसमें कि *संघ* कैसे अस्तित्व में आया।

3) मूल संगठन से उदित होने वाले विभिन्न मत-सम्प्रदायों को सूचीबद्ध करने में।

4) *संघ* तथा शासक के बीच के संबंध का वर्णन करने में।

लेकिन पहले स्वयं को बौद्ध *त्रिपिटकों* से परिचित कराना आवश्यक है ।

3.4 बौद्ध ग्रंथ

बौद्ध ग्रंथों की रचना विद्वान भिक्षुओं द्वारा की गई थी। ये ग्रंथ बुद्ध की शिक्षा तथा *संघ* के इतिहास के विषय में थे। ये ग्रंथ भिक्षुओं तथा सामान्य उपासकों, दोनों, के लिए लिखे गए थे। उनकी प्रतिलिपियाँ बनायी जाती थीं तथा उन्हें *मठ-विहारों* में दिशा-निर्देशन के लिए उपयोग में लाया जाता था।

इस तथ्य को जानना महत्वपूर्ण है कि बौद्ध धर्म का संस्थापक एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व था। प्रारम्भ में उनकी शिक्षाएँ बिखरी हुई थीं तथा जो भी अनुयायियों को याद था उसके माध्यम से उन्हें जाना जाता था। जब अनुयायियों की संख्या का अनुपात बहुत बढ़ गया तो इन्हें *पिटकों* के रूप में संगठित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। जो अनुयायी बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति अत्यधिक समर्पित थे उनको एक व्यवस्था – *संघ* – में संस्थाबद्ध किया गया। चूँकि यह एक नए तरह का विकासक्रम था जो किसी अन्य संन्यास जीवन अपनाने वाले मत-सम्प्रदाय में आम नहीं था अतः इसे लेखबद्ध किया जाना था। इसका तात्पर्य था साक्ष्य के रूप में बुद्ध के जीवन के संबंध में कोई सूचना देने के साथ ऐतिहासिक बुद्ध के सत्य-अस्तित्व और वैधता के संबंध में विवरण देना। भिक्षु समय-समय पर बुद्ध की शिक्षाओं पर चर्चा तथा वाद-विवाद करने के लिए एकत्र होते थे। इसका परिणाम मत-सम्प्रदायों में विभाजन में निकला। जिसकी परिणति प्रत्येक समूह द्वारा अपने दृष्टिकोण से इतिहास को दर्ज करने में हुई।

राजनीतिक परिदृश्य में प्रथम सहस्राब्दी बी सी ई के मध्य में जब बौद्ध धर्म का उदय प्रधान मत के रूप में हुआ तो उत्तरी भारत में कई *गण-संघ* (कुलीनतंत्र) तथा राज्य (राजतंत्र) अस्तित्व में थे। बौद्ध ग्रंथों में प्रथम सहस्राब्दी बी सी ई के उत्तरार्द्ध से सामान्य युग की प्रारम्भिक सदियों तक मध्य गंगा के मैदानों में मगध तथा कोसल में शासन करने वाले राजाओं तथा *गण-संघों* का उल्लेख मिलता है। इनका बुद्ध के साथ किसी न किसी प्रकार का संबंध रहा था। मगध में शासन करने वाले राजा बिंबिसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु और कोसल के प्रसेनजित बुद्ध के समकालीन थे। महावीर सुविख्यात ज्ञांत्रिक (Jnatrika) कुल से संबंध रखते थे जो वैशाली के वृज्जि संघठन में शामिल आठ कुलों में से एक था। क्रमिक रूप से ये कुलीनतंत्र राजतंत्रों में रूपांतरित होते रहे। बौद्ध परम्परा के अनुसार राजाओं में मगध का शासक अशोक एक महान् धर्म-संरक्षक राजा था।

बौद्ध धर्म का विकास नगरीय परिवेश में हुआ था। नगरों की परिधि में स्थित उद्यानों में नए विचारों पर चर्चा की जाती थी। ***उपनिषदों*** से हमें यह पता चलता है कि राजाओं के दरबारों में नए विचार चर्चा तथा शास्त्रार्थ का विषय थे। नगरों में वैदिक ग्रंथों का पाठ नहीं किया जाता था, कदाचित् उनकी निंदा ही की जाती थी। संरक्षण पाने और अनुयायी बनाने हेतु इन नए विधर्मी मत-सम्प्रदायों के बीच काफ़ी प्रतिस्पर्धा थी। अतः यह अनुभव किया गया कि विचारधाराओं को विशेष रूप दिया जाए। इसके लिए आवश्यकता थी कि शिक्षाओं, विशेषकर घुमक्कड़ भिक्षुओं के वचनों, को लेखबद्ध किया जाए।

कैसे और क्यों *संघ* की उत्पत्ति हुई तथा इसके समाज के साथ विकसित होते संबंध से इस धर्म के निर्माण का इतिहास उपलब्ध होता है। *संघ* तथा समाज के संबंध को परिभाषित करने में दो विकासक्रम महत्वपूर्ण थे। एक तो यह तथ्य कि महिलाओं को बाद में *संघ* में शामिल होने की अनुमति दी गई। उन स्थानों में संघाराम/*मठ* अस्तित्व में आए जहाँ पहले वे अज्ञात थे। पहले महिलाओं को घर त्यागने तथा संन्यास ग्रहण करने की अनुमति नहीं थी। दूसरा विकासक्रम आम अनुयायियों से भी दान ग्रहण करना था। ऐसे दानों ने उपासना स्थलों की स्थापना में सहायता की। इन दानों को दर्ज किया जाना था और इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध तथा जैन दान-अभिलेख अस्तित्व में आए। यह पहलू बौद्ध तथा जैन परम्पराओं को पौराणिक परम्परा से भिन्न बनाता है जिसमें वंशों, नायकों तथा राजकुल के वंश-वृक्षों की सूची को समाहित किया गया था। राजपरिवारों तथा उनके प्रमुखों से प्राप्त दानों के बौद्ध लेख न केवल *संघ* की सत्ता में वृद्धि करते थे बल्कि इन्होंने अधिक विश्वसनीय दस्तावेज़ उपलब्ध कराए तथा अधिक ऐतिहासिक स्वरूप का आभास दिया।

बौद्ध *त्रिपिटकों* में विभिन्न प्रकार के तथा बहुत से ग्रंथ शामिल हैं। वे एक ऐतिहासिक परम्परा के उदय का आधार तैयार करते हैं। मूल रूप से बुद्ध की शिक्षाएँ एक मौखिक परम्परा का हिस्सा थीं। धीरे-धीरे इनका पाली भाषा में व्यवस्थित संकलन हुआ तथा इन्हें पाली बौद्ध धर्मग्रंथ कहा जाता है। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को उपदेश देने के लिए संस्कृत के स्थान पर अर्द्ध-मागधी को चुना था। बुद्ध

की मृत्यु के बाद यह महसूस किया गया कि *संघ* में अनुशासनहीनता की वृद्धि को रोकने के लिए तथा उनकी शिक्षाओं को संरक्षित किए जाने के लिए *संघ* के संचालन को शासित करने वाले नियमों के साथ ही इन्हें लेखबद्ध किया जाना महत्वपूर्ण था।

थेरवादियों (वरिष्ठ भिक्षु) का यह मानना था कि पाली धर्मग्रंथों में बुद्ध की वास्तविक शिक्षाएँ दर्ज थीं। पाली धर्मग्रंथों को सामान्य युग की पहली सहस्राब्दी के मध्य में संकलित करना प्रारम्भ किया गया था तथा बाद में इन्हें लिखा गया। इनमें तीन *पिटक* (इसका शाब्दिक अर्थ है 'टोकरी') शामिल हैं:

1) *विनय पिटक*: इनमें अनुशासन तथा *संघ* के विनियमों को शासित करने वाले नियम शामिल हैं।

2) *सुत्त पिटक*: इनमें पाँच *निकाय* (संकलन) शामिल हैं जो बुद्ध की सारभूत शिक्षाओं से विकसित हुए थे। इसमें निम्नलिखित शामिल हैं:

   क) *दीघ-निकाय*

   ख) *मज्झिम-निकाय*

   ग) *संयुक्त-निकाय*

   घ) *अंगुत्तर-निकाय*

   च) *खुद्दक-निकाय* (इसमें *धम्मपद* तथा *सुत्तनिपात* शामिल हैं)

बुद्ध के पूर्वजन्मों को *जातकों* में लेखबद्ध किया गया है और *बुद्धवंश* में बुद्ध तथा बुद्धत्व की कथाएँ शामिल हैं।

3) *अभिधम्म पिटक*: ये बुद्ध की शिक्षाओं को व्यवस्थित रूप देते हुए उनकी व्याख्या करते हैं।

मूलभूत घर्मग्रंथों का निर्धारण करना समस्यापूर्ण है। इनमें किए गए बदलावों की तिथि के संबंध में समस्या है तथा उनका कालक्रम समान रूप से इनकी तिथि का निर्धारण करना समस्यापूर्ण बना देता है। इन ग्रंथों में राजनीति, राज्यक्षेत्रों, समाजों के संबंध में जो सूचना मिलती है उसका उपयोग इस काल के इतिहास का पुनर्निर्माण करने में किया गया है।

उपर्युक्त के अलावा भाष्य भी हैं जिनकी प्रकृति स्पष्टीकरण तथा अभिपुष्ट करने की है। ये सभी अतीत की घटनाओं पर दृष्टि डालते हैं। भाष्यों की आवश्यकता तब सामने आई जब *श्रमण* परम्परा के भीतर ही मूलपाठ की अब तक स्वीकृत व्याख्याओं को असहमत पक्षों ने प्रश्नांकित किया, या जब ऐतिहासिक संदर्भ में परिवर्तन हो गया, या नए समय से तालमेल बैठाने वाली व्याख्याओं को खोजा जाने लगा। ग्रंथ तथा उसके भाष्य के बीच संबंध ऐतिहासिक प्रकृति का था, यदि वास्तव में इतिहास न भी रहा हो। ये भाष्य सिंहल/सिहल भाषा में थे जो इस प्रकृति के ग्रंथों की प्रारम्भिक भाषा थी। सामान्य युग की पहली सहस्राब्दी के मध्य में इन ग्रंथों को व्यवस्थित रूप से संकलित कर पाली में अनुवादित किया गया। इन भाष्यों ने इस तथ्य से महत्व प्राप्त किया है कि ये अतीत की उन घटनाओं पर दृष्टि डालते हुए व्याख्याएँ तथा स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने एक ऐतिहासिक परम्परा के निर्माण में योगदान दिया है।

इन पाली धर्मग्रंथों के बाद के *थेरवादी* ग्रंथों में मुख्यतः श्रीलंका के *महाविहार* संघाराम के इतिवृत्त शामिल हैं। इनमें *दीपवंश* तथा *महावंश* शामिल हैं जिनकी तिथि सामान्य युग की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में निर्धारित की गई है और इस प्रकार ये पाली धर्मग्रंथों के बाद के काल के हैं। *चूलवंश, महावंश* के आख्यान का ही विस्तार है और काफ़ी हद तक श्रीलंका के बाद के काल के इतिहास को समाहित करता है। यह संघारामों के इतिहास पर भी ध्यान देता है। इन्हें सिंहली इतिवृत्तों के रूप में भी जाना जाता है।

इन पाली धर्मग्रंथों के बाद की उत्तर भारतीय परम्परा में पहली सहस्राब्दी सी ई की शुरुआत में लिखी बुद्ध की जीवनियाँ शामिल हैं। ये अपने समय में उन आख्यानों के समकालीन हैं जिनसे सिंहली इतिवृत्तों का निर्माण हुआ था। लेकिन, जिन स्थानों में इनकी जड़ें हैं वे एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इनमें पाली के स्थान पर गांधारी-प्राकृत तथा संस्कृत का प्रयोग किया गया है। ये जीवनियाँ बुद्ध के विषय में हैं जिनमें *संघ* के संरक्षणदाताओं के कुछ शब्दचित्र भी शामिल हैं। अश्वघोष के *बुद्धचरित*

ने अतीत के आयाम के रूप में जीवनी-लेखन की विधा की शुरुआत की थी। इसी रीति को *ललितविस्तार, दिव्यावदान* (इसमें *अशोकावदान* वाला खंड अशोक के महान् कृत्यों का बखान करता है) में अपनाया गया। श्रीलंका की परम्परा में जीवनियाँ सामान्यतः नदारद हैं और उत्तरी बौद्ध परम्परा में इतिवृत्त सापेक्षिक रूप से अनुपस्थित हैं। रोमिला थापर का मत है कि सामान्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में जीवनीपरक लेखन शिक्षण का सामान्य रूप बन गया। बौद्ध धर्मग्रंथों ने बुद्ध की शिक्षाओं को व्यवस्थागत रूप दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने *संघ, थेरवादियों* तथा विख्यात उपासकों के इतिहास, भिक्षुओं और राजाओं के साथ बुद्ध की चर्चा, घटनाओं के थोड़े-बहुत कालक्रम तथा बुद्ध की जीवनी के अंशों से संबंध स्थापित किया है।

3.5 ग्रंथ लेखक

भिक्षुओं को मौखिक परम्परा के संरक्षण का श्रेय दिया जाता है। *थेरवाद* परम्परा ने पाली में अपने दस्तावेज़ों को सुरक्षित रखा क्योंकि इसे बुद्ध द्वारा प्राथमिकता दी गई थी। आरम्भिक सिंहली ग्रंथों ने भी मौखिक सिंहली परंपराओं का सहारा लिया था। संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद सोग्दियन/सोग्डियन, ख़ोतानी, चीनी और तिब्बती भाषा में हुआ जो उन क्षेत्रों का संकेत भी करता है जहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ था।

इतिहास-पुराण परम्परा के विपरीत इनके लेखक चारणों या ब्राह्मणों के बजाय भिक्षु या आम विद्वान-जन थे। ये भिक्षु *विहारों*/संघारामों में रहते थे। अतः इनका नज़रिया दरबारी या राजतंत्रात्मक नहीं बल्कि *विहारों* तथा *संघ* के परिप्रेक्ष्य में था। नगरीय परिवेश से संबंध, नगर-निवासियों, गृहस्थों तथा व्यापारियों से अंतःसंवाद ने उनके नज़रिए को निर्धारित किया था। राजधानी की राजनीति को छोड़ नहीं दिया गया था किंतु उसे संघारामों की चिंताओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता था। राजसत्ता की तुलना में *विहार*, मत-सम्प्रदाय तथा *संघ* अधिक केंद्रीय भूमिका में थे। साक्षरता का अधिक प्रचलन था और इसने धर्मग्रंथों, भाष्यों और इतिवृत्तों की नियमित अंतराल पर प्रतिलिपियाँ तैयार करना अनिवार्य बना दिया था ताकि इनको सुरक्षित रखा जा सके। इन विवरणों को क्षेपकों के माध्यम से या ग्रंथ के पुनर्लेखन या नए ग्रंथ को जोड़कर (पुराने ग्रंथ को स्रोत के रूप में प्रयोग कर) अद्यतन (update) बनाया जाता था।

बौद्ध धर्म में शास्त्रार्थ और चर्चा पर विशेष बल था तथा प्रारम्भिक चरणों में तर्कसंगत-विचार पर भी। दैवीय ज्ञान की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। मौखिक परम्परा विद्यमान थी। बुद्ध की शिक्षाओं का निर्माण उनके द्वारा सामान्य उपासकों से आमने-सामने किए गए संवादों से हुआ था। वाणी से निकले हुए शब्दों का आदर होता था किंतु उन पर बहस की जाती थी। इन्हें दर्ज करने की आवश्यकता तब हुई जब बुद्ध की मृत्यु के बाद *संघ* उनकी शिक्षा के यथार्थसत्य को सुरक्षित रखना चाहता था।

बोध प्रश्न-1

1) चर्चा कीजिए कि कैसे विमलसूरि का *पौमचरियम*, जो *रामायण* का एक संस्करण था, एक ऐतिहासिक नज़रिए की अभिव्यक्ति है?

.....

.....

.....

2) मोटे तौर पर बौद्ध ग्रंथों की वे कौन सी श्रेणियाँ हैं जिनका उपयोग बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा के पुनर्निर्माण में किया जा सकता है?

.....

.....

.....

3.6 बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा

बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा के आरम्भिक मूल को *इतिहास-संवाद* तक पीछे ले जाया जा सकता है। ये वार्तालाप-रूपी कथाएँ हैं जो *वेदों* की वार्ता-ऋचाओं और *आख्यानों* के समकक्ष हैं। इनका

सूत्रीकरण बौद्ध स्वरूप में किया गया है और ये *निकाय* तथा *सुत्त पिटक* में पाए जाते हैं। ये सामाजिक संस्थाओं तथा बौद्ध सिद्धांत की शुरुआत की व्याख्याओं के वर्णन वाले खंड का निर्माण करते हैं। ये संवाद बुद्ध के जीवन के किसी प्रसंग या बौद्ध शिक्षा के संदर्भ में किसी शिष्य पर केंद्रित होते हैं। बौद्ध परम्परा में विश्व के कल्पनात्मक आरम्भ तथा कुलों की उत्पत्ति-संबंधी मूल मिथक हमें समाज के विषय में सामाजिक परिकल्पना से अवगत कराते हैं। प्रमुख मिथक कुटुम्ब, भूमि के निजी स्वामित्व, प्रतिष्ठा तथा राजसत्ता के उद्‌गम की व्याख्या करते हैं। अतीत एक कल्पना-लोक है जो समतापूर्ण समाज से सोपानबद्ध समाज की ओर रूपांतरित होता है, जिसका परिणाम राज्य-शासन की उत्पत्ति और क्षत्रियों की प्रभावशाली स्थिति में निकलता है। अतीत का विकास क्रमिक रूप से होता है। भूमि पर निजी स्वामित्व ने क्रमशः सामुदायिक स्वामित्व का स्थान ले लिया था। इससे उत्पन्न हुए विवादों ने किसी ऐसे व्यक्ति में सत्ता को स्थापित किया जो कानूनों को लागू करे तथा सम्पत्ति की रक्षा करे। इसका परिणाम क्षत्रिय (जिसे *खेत* या क्षेत्र का स्वामी होने के कारण ऐसा कहा गया था) तथा *राजा* (सभी को मोह लेने के कारण उसे ऐसा कहा गया) के परस्पर मिल जाने में हुआ। क्षत्रिय या *राजा* के दो हित थे – भूमि का स्वामित्व तथा राजनीतिक सत्ता का प्रयोग। एक वंश-आधारित समाज से एक अधिक जटिल समाज की ओर संक्रमण की समस्त प्रक्रिया को बौद्ध परम्परा में इस ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले तरीके से समझा गया है। समस्त प्रक्रिया दैवीय हस्तक्षेप से मुक्त है तथा यह व्याख्या कार्य-कारण तथा तर्क पर आधारित है जो अतीत को ऐतिहासिक रूप से देखने में सहायक होती है।

क्षत्रिय वंशों के उत्पत्ति-संबंधी मिथकों में शाक्यों तथा कोलियों, इत्यादि की वंशावलियाँ शामिल हैं। ऐतिहासिक विचार-पद्धति का यह वंशावली-आधारित तरीका, जिसका *पुराणों* तथा महाकाव्यों में भी प्रयोग किया गया है, बौद्ध परम्परा में भी नज़र आता है, यद्यपि वंश-सूचियों में भिन्नता है। शाक्यों की उत्पत्ति ओक्कला/ओक्कल (संस्कृत में इक्ष्वाकु) वंश से हुई थी जिसकी प्रथम पत्नी की संतान ने कपिलवस्तु के नगर की स्थापना की थी। शाक्य कुल में अन्तर्विवाह पर बल दिया गया था। कुल में अन्तर्विवाह पर बल देना वस्तुतः वंश की शुद्धता को सुनिश्चित करने के लिए था ताकि इसका मूल समान रक्त में स्थापित किया जा सके। उत्पत्ति-संबंधी मिथक के कई रूप हैं। प्रत्येक प्रकरण में मिथक किसी वंश तथा उसके *जनपद* से संबंधित नगर की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। इनमें से कई पौराणिक वंश सूची में शामिल नहीं हैं। किसी स्थापित राजपरिवार से जुड़े क्षत्रिय वंश से संबंधित होने पर दिया गया बौद्ध बल स्पष्ट नज़र आता है। बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा में उत्पत्ति-संबंधी मिथकों का उपयोग कई बार स्वयं को ब्राह्मणीय व्यवस्था से भिन्न दिखाने के लिए हुआ है और इस प्रकार अतीत का एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

बुद्धवंश में विषय-सामग्री का वर्णन इसी प्रकार हुआ है किंतु यह पहले के बुद्धों की परम्परा में गौतम बुद्ध के अनुक्रम पर केंद्रित है। चूँकि यह ऐतिहासिक बुद्ध के साथ समाप्त होता है अब हम अगले चरण की ओर अर्थात बुद्ध की शिक्षा तथा *संघ* की ओर चलेंगे।

3.6.1 *संघ* का आरम्भिक इतिहास

अतीत की बौद्ध परिकल्पना उत्पत्ति-संबंधी मिथकों से उन घटनाओं की ओर मुड़ती है जिन्हें *संघ* के इतिहास में आधारभूत और ऐतिहासिक माना जाता है। बौद्ध *संघ* के निर्माण का वर्णन करते हुए *विनय पिटक* घटनाओं को एक कालानुक्रमिक रूप में पेश करता है। *विनय पिटक* विभिन्न बौद्ध संगीतियों या परिषदों के इतिहास का वर्णन करता है। *संघ* की प्रथम संगीति, जो बुद्ध की मृत्यु के शीघ्र बाद ही राजगृह में हुई थी, में बौद्ध सिद्धांत का पहली बार पाठ किया गया। आनंद और उपालि वे दो शिष्य थे जिन्होंने दो *पिटकों* का वाचन किया तथा तदनंतर इनको संरक्षित किया गया। दूसरी संगीति एक शताब्दी बाद वैशाली में आयोजित हुई। इस महत्वपूर्ण विषय पर विभाजन पैदा हो गया कि क्या भिक्षु धन का दान ग्रहण कर सकते हैं। वैशाली के भिक्षु *विहारों* को प्राप्त होने वाले ऐसे दानों के पक्ष में थे तो पश्चिमी संघारामों (कौशाम्बी तथा मथुरा) से संबंध रखने वाले भिक्षु इसके विरोध में थे। अंत में जो निर्णय लिया गया वह था ऐसे दान न स्वीकारने का। *थेरवाद* की परम्परा के अनुसार तीसरी संगीति का आयोजन मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में 136 वर्षों बाद हुआ था। *थेरवादियों* का यह दावा था कि वे अनुशासन के परम्परागत मत का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अन्य मत-पंथों को अस्वीकार था। सम्राट अशोक के प्रसिद्ध *धम्म*-विच्छेद शिलालेख (Schism-Edict) में असहमति जताने वाले भिक्षुओं को *संघ* से निष्कासित करने का आह्वान है। इससे भी उत्पन्न हुए मतभेद का पता

चलता है। इस संगीति ने इस मतभेद को स्वीकार किया। बहुसंख्यकों को *महासांघिक* कहा गया तथा अल्पसंख्यकों, सम्भवतः वरिष्ठ भिक्षुओं, को *स्थवीरवादिन/थेरवादी* कहा गया। चौथी संगीति पहली शताब्दी सी ई में कुषाण शासक कनिष्क के समय में हुई। यह इन संगीतियों तथा इनके निर्णयों को ऐतिहासिकता प्रदान करने का प्रयास है, *संघ*-विशेष के दृष्टिकोण के अनुसार इन परिषदों द्वारा पाठबद्ध करने के माध्यम से। रोमिला थापर के अनुसार बौद्ध परम्परा के विपरीत पौराणिक पंथ इस समय न केवल किसी प्रकार के संस्थागत ढाँचे से रहित थे बल्कि ऐतिहासिकता के विषयों के प्रति उतने चिंतित नहीं दिखते थे जितने कि बौद्ध।

पंथगत विभाजनों को नियंत्रित करने के प्रयास में एक व्यापक धर्म के रूप में बौद्ध मत *हीनयान* (Lesser Vehicle; जिसके *थेरवादी* एक अंग थे) तथा *महायान* (Greater Vehicle; जिसमें *सर्वस्तिवादिन* तथा अन्य मत शामिल थे) में बँट गया। रोमिला थापर का मानना है कि इस विभाजन का ऐतिहासिक साक्ष्य रखना अनिवार्य था ताकि स्वयं को इन पंथों का उत्तराधिकारी मानने वाले अपनी वैधता साबित कर सकें।

3.6.2 समय की अवधारणा

समय की अभिव्यक्ति तथा उसकी गणना इतिहास का अनिवार्य तत्व है। समय की बौद्ध अवधारणा पौराणिक विचार में उपस्थित समय की अवधारणा से भिन्न है। इसमें चक्रीय तथा रेखीय समय के बीच समान बिन्दु भी हैं और उनमें पृथकता भी है। थेरवादियों/स्थविरों या वरिष्ठ बौद्ध भिक्षुओं के कालक्रम की गणना तथा उनकी वंशावलियों के निर्धारण हेतु प्रस्थान का केंद्रीय तत्व *महापरिनिर्वाण* में उपलब्ध होता है। यह रेखीय समय की पुष्टि करता है। वहीं पौराणिक परम्परा के समान ब्रह्मांडीय समय को चक्रीय रूप में देखा गया है। 'ब्रह्मांडीय समय, वंशानुगत समय तथा रेखीय समय सभी का अस्तित्व है किंतु ये पौराणिक संदर्भ से भिन्न रूप में कार्यरत हैं'। इन सबमें रेखीय समय सबसे कम अस्पष्टता लिए है। *महापरिनिर्वाण* द्वारा एक केंद्रीय तिथि का निर्धारण किया गया है जिससे सभी घटनाओं की गणना की जाती है। यह परिमित काल है तथा इसमें चक्रीय पुनरावृत्ति नहीं होती है। इसने इतिहास के प्रति निवेदन को भी बल दिया और स्वयं उससे बल भी पाया।

3.6.3 ऐतिहासिक विचार के चिह्न

वे ग्रंथ जो बौद्ध इतिहासलेखन का संकेत देते हैं अंशतः धर्म-*संघ* से सम्बंधित हैं तो अंशतः गैर-धार्मिक परिप्रेक्ष्य से भी। उनका संबंध बुद्ध के इतिहास, बौद्ध *संघ*, इसके कई उप-सम्प्रदायों और उनके ऐतिहासिक संस्थानों से है। बुद्ध को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। ये सभी पहलू बृहत समाज से भी जुड़े हुए हैं। एक ओर जहाँ राजनीतिक सत्ता के साथ निरंतर अंतःसंवाद हो रहा है वहीं दूसरी ओर सामान्य उपासकों के साथ भी। सामान्य जन-समुदाय द्वारा दिए गए दानों को दर्ज करने वाले दान-अभिलेख इस घनिष्ठ संबंध को अभिव्यक्त करते हैं। *संघ* का इतिहास एक बृहद इतिहास का अंग भी है।

राजनीतिक क्षेत्र में वंशीय उत्तराधिकार देखने को मिलता है। इस ही के समानांतर धार्मिक क्षेत्र में *थेरवादी* भिक्षुओं का पीढ़ीगत अनुक्रम देखने को मिलता है। इतिहास में जीवनवृत्तों को शामिल किया गया है क्योंकि राजाओं तथा *थेरों* का जीवन *संघ* पर प्रभाव डालता था। इतिहास के प्रति बौद्ध मनोवृत्ति राजाओं, मंत्रियों तथा युद्धों, इत्यादि की लोकप्रिय वार्ता के लिए बुद्ध के तिरस्कार से शासित थी और साथ ही काल के अस्थायी होने की बौद्ध अवधारणा से भी। इस तरह के विचार को स्वभावतः तो किसी ऐतिहासिक परम्परा में योगदान नहीं देना चाहिए था। लेकिन, रोमिला थापर का मानना है कि पाली *त्रिपिटकों* में इतिहास का तर्क अंतर्निहित रूप से उपस्थित है। बुद्ध होने के मूल मिथकों तथा कुछ मात्रा में तार्किक पुनर्व्याख्या, बौद्ध गतिविधियों का इतिहास, *संघ* की स्थापना, संगीतियों तथा *संघ* में विभाजन का इतिहास, आदि ये सभी इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि इस विवरण को एक कालक्रम की व्यवस्था में प्रस्तुत किया गया था, तर्कपूर्ण व्याख्याओं को ध्यान रखते हुए जिनमें बीच-बीच में मिथकों को भी स्थान दिया गया था। वह आगे तर्क देती हैं, '... *प्रतीत्यसमुत्पाद* (उत्पत्ति की पर-निर्भरता) का बुद्ध का आधारभूत उपदेश अतीत को जानने के लिए *हेतु* (कारण) को एक आवश्यक तत्व मानता है' (थापर 2017: 412)। घटनाओं को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है तथा यह ध्यान में रखते हुए कि ब्रह्मांड अनित्य तथा परिवर्तनशील है ऐतिहासिक परिवर्तन का विचार

बौद्ध विचारधारा में एक स्वतः सिद्ध तत्व है। ऐतिहासिक परम्परा के घटकों को बुद्ध की शिक्षाओं के क्रमिक विकास में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, बुद्धत्व को दैवीय अनुकम्पा नहीं माना गया है बल्कि विश्लेषणात्मक तर्क तथा कार्य-कारण के ज्ञान के रूप में देखा गया है। *संघ* इस ऐतिहासिक परम्परा में मुख्य पात्र की भूमिका में है जो बुद्ध की मृत्यु के बाद प्रमुख संस्था के रूप में उभरा और जिसके साथ बौद्ध मत का इतिहास शुरू होता है। *संघ* का अशोक या पुष्यमित्र शुंग जैसे शासकों के साथ संबंध *संघ* की ऐतिहासिकता को रेखांकित करता है।

3.6.4 श्रीलंका के पाली इतिवृत्त

दीपवंश तथा *महावंश* प्रमुख इतिवृत्त हैं तथा कुछ बाद का *चूलवंश* है। इनमें से प्रथम दो श्रीलंका के अनुराधापुर में स्थित *थेरवाद* से संबंधित *विहार, महाविहार* के इतिहास तथा इस राज्य के आरम्भिक इतिहास के विषय से संबंध रखते हैं। *दीपवंश* तथा *महावंश* प्रथम सहस्राब्दी सी ई के मध्य के हैं; ये 'श्रीलंका में बौद्ध मत के आगमन से संबंधित भारत के इतिहास पर आधारित हैं जिसमें अशोक ने प्रमुख भूमिका निभाई थी' (थापर 2017: 63)। तीनों इतिवृत्त *थेरवाद* के नज़रिए से मध्य गंगा मैदानों के इतिहास को प्रस्तुत करते हैं। भारत की घटनाओं को एक पृष्ठभूमि के रूप में देखा गया है। ये इतिवृत्त तथा इन पर लिखे गए भाष्य इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि स्थापित धर्मों में विभेद के उभार की व्याख्या भाष्य-लेखन के माध्यम से करने की आवश्यकता होती है ताकि नव-दीक्षितों को संतुष्ट किया जा सके।

ये इतिवृत्त एक अधिक स्पष्ट ऐतिहासिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें एक व्यवस्थित विवरण है जो कालानुक्रम तथा अपने उद्देश्य अर्थात *संघ* की प्रतिष्ठा स्थापित करने का अनुसरण करता है। ये इतिवृत्त धार्मिक गतिविधियों के विषय में हैं किंतु इनमें *संघ* के प्रभावशाली संरक्षणदाताओं का वर्णन भी है। राजसत्ता के साथ संबंध के साक्ष्य मिलते हैं। राजाओं को प्रभावशाली संरक्षणदाताओं के रूप में दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए, अशोक। उसे महान् संरक्षणदाता होने का श्रेय दिया गया है जो धार्मिक उद्देश्यों हेतु इतिहास के उपयोग का संकेत करता है। यद्यपि अशोक की बौद्ध-अनुयायी के रूप में प्रशंसा की गई है तथा उसके निर्णयों को श्रीलंका में *थेरवाद* की स्थापना का श्रेय दिया गया है, वह स्वयं इस तरह के संबंधों के विषय में कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालता है। यह सम्भव है कि इस संबंध को बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया हो तथा इतिहास का सहारा इस हेतु लेने का प्रयास स्पष्ट ही नज़र आता है। ये इतिवृत्त तथा इन पर लिखे गए भाष्य सार-रूप में श्रीलंका में *थेरवाद* का इतिहास हैं। इतिहास के अन्य उल्लिखित पहलुओं में परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ, कुलीनतंत्रों का राज्यों में तथा कालांतर में बृहत राजव्यवस्थाओं में रूपांतरण शामिल हैं। यह आख्यान संक्षेप में उत्तर भारत में अपनी जड़ों तक जाता है।

इतिवृत्तों में जो भी समाहित है उससे जो निकलकर आता है वह एक ऐतिहासिक परम्परा द्वारा बौद्ध मत को समर्थन प्रदान करना है। ऐसा कई कारणों से था। बौद्ध मत को कई ग़ैर-बौद्ध सम्प्रदायों और ग़ैर-बौद्ध पड़ोसियों से प्रतिस्पर्धा करनी थी। यह ऐतिहासिक परम्परा औपचारिक रूप ग्रहण कर रही थी तथा प्रवाहमान मौखिक परम्पराओं से परिष्कृत की जा रही थी, उस समय जब तीसरी शताब्दी सी ई के देवानामपिय तिस्स (अशोक) से लेकर चौथी शताब्दी सी ई के महासेन के बीच के राजाओं की सूची को पाठ-बद्ध किया जा रहा था। *संघ* को प्रमुख धार्मिक संस्था के रूप में स्थापित करना एक आवश्यकता थी। संघाराम भूमि-अनुदानों के रूप में संरक्षण प्राप्त कर रहे थे। इसकी राजनीतिक शक्ति की व्याख्या करने के लिए एक ऐतिहासिक परम्परा की आवश्यकता थी। *संघ* को अन्य लालची संस्थानों की श्रेणी में होने के दोष से बचना था और इस उद्देश्य के लिए इसके कृत्यों की धर्मपरायणता तथा नैतिकता पर बल दिया जाना था जिसने *संघ* को संपत्ति से सम्पन्न बनाया था। इसके अतिरिक्त, पंथीय विभाजन और निष्ठाओं ने *संघ* के वरिष्ठ भिक्षुओं व महंतों के विषय में जानकारी को सूचीबद्ध करना आवश्यक बना दिया था। रोमिला थापर का मानना है कि *महाविहार* तथा अभयगिरी संघारामों में उदीयमान *थेरवाद* के बीच प्रतिस्पर्धा के प्रकरण में *महाविहार* की थेरवादी व्याख्या तथा बौद्ध मत का संस्करण श्रीलंका में प्रथम सहस्राब्दी के मध्य से प्रधान बन गया था। उनका विश्वास है कि यह ऐसा उदाहरण था जिसमें एक वर्चस्वशाली धार्मिक संस्था अपने लाभ हेतु ऐतिहासिक आख्यान का स्वयं की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए उपयोग कर रही थी। सम्भवतः यहाँ हम देखते हैं कि 'एक धार्मिक संस्था का इतिहास, राजनीतिक सत्ता की प्रच्छन्न पक्षधरता के रूप में स्वयं इतिहास लेखन की एक परियोजना बन जाता है' (थापर 2017: 436.37)।

3.6.5 बौद्ध जीवनियाँ

अतीत का बौद्ध दृष्टिकोण एक अन्य तरीके से भी वर्णित हुआ जो बुद्ध की जीवनियाँ थीं। इन्हें उनके विचारों को रेखांकित करने वाले व्यक्तिगत आख्यानों के रूप में भी क्रियाशील देखा जा सकता है। उन व्यक्तियों की आंशिक जीवनियाँ भी थीं जो बौद्ध धर्म के लिए महत्व रखते थे, जैसे अशोक। रोमिला थापर के अनुसार जीवनीपरक शैली को अपने विषय को ऐतिहासिक रूप में पेश करने की आवश्यकता थी ताकि यह जीवंत लगे। उत्तर-भारतीय परम्परा में जीवनियाँ लोकप्रिय थीं। इसका कारण यह तथ्य हो सकता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म का राजसत्ता के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध नहीं था और न ही वहाँ अन्य प्रतिस्पर्धी बौद्ध पंथ प्रतिष्ठा हेतु संघर्षरत थे। सामान्य युग की शुरुआत तथा सामान्य युग की शुरुआती शताब्दियों में ऐसी जीवनियों का लेखन आम प्रचलन में आ गया था।

बुद्ध की जीवनियों की रचना को इस तथ्य ने प्रोत्साहित किया कि बुद्ध स्वयं में एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे। न केवल *त्रिपिटक* साहित्य ही बुद्ध की जीवनी से सरोकार रखता था बल्कि सामान्य युग की शुरुआत में ग़ैर-*त्रिपिटक* साहित्य भी इन विषयवस्तुओं के आस-पास विकसित हो रहा था। हमारे पास *अवदान* साहित्य है जो बुद्ध तथा *बोधिसत्वों* और अन्य प्रमुख व्यक्तियों के महान् कार्यों तथा उनकी कथाओं को प्रस्तुत करता है तथा उन्हें अतीत के भाग के रूप में दिखाता है। *बुद्धावदान* इस तरह का पहला साहित्य है। यह ऐतिहासिक बुद्ध, *पच्चेकबुद्धों* (जिन्हें *बोधि* तो प्राप्त हुई किंतु उन्होंने बौद्ध सिद्धांत/बौद्ध मत का प्रतिपादन नहीं किया), महत्वपूर्ण *थेरों* तथा *थेरियों* (भिक्षु तथा भिक्षुणियों) के गौरव का बखान करता है। *अवदान* एक सुपरिभाषित परिपाटी को अपनाते हैं। वे किसी पूर्व बुद्ध की किसी अतीत के उपासक द्वारा आराधना से शुरू होते हैं। इसके बाद बुद्ध उस उपासक के पुनः जन्म लेने और उस उपासक द्वारा बुद्ध को पाने का वर्णन करते हैं। *अवदान* साहित्य में जीवनी के तत्व हैं किंतु ये *चरित* साहित्य (जीवन-चरित) से भिन्न हैं।

बुद्धचरित

अश्वघोष के *बुद्धचरित* की तिथि पहली शताब्दी सी ई या इसके कुछ बाद निर्धारित की गई है। इससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार जीवनी का उपयोग इतिहास के रूप में किया जाता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के चीनी बौद्ध भिक्षुओं ने इसे बहुत लोकप्रिय अध्ययन-सामग्री में गिना है। इसमें 17 अध्याय हैं जिनमें से केवल प्रथम तेरह को अश्वघोष की रचना माना जाता है। बाद के चार का श्रेय किसी अन्य लेखक को दिया गया है। मूल ग्रंथ में बुद्ध के जीवन को समाहित किया गया था किंतु वर्तमान संस्कृत ग्रंथ बुद्धत्व की प्राप्ति पर समाप्त हो जाता है। एक चीनी अनुवाद में बाद के अध्याय उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ की विशेषता उच्च गुणवत्ता की दरबारी संस्कृत काव्य शैली है। *बुद्धचरित* बुद्ध के *बोधि* प्राप्त करने को इस ग्रंथ के उच्चतम बिन्दु के रूप में पेश करता है। बुद्ध का क्षत्रिय वंशज होना, बिंबिसार का उल्लेख, आदि – ये सभी ऐतिहासिक चरित्र के रूप में बुद्ध की केन्द्रीयता की ओर संकेत करते हैं। एक बाद की तिब्बती जीवनी में शाक्यों की वंशावली; कोसल, मगध, अवंति, कौशाम्बी तथा वृज्जि *संघ* का बुद्ध के जीवन के समकालीनों के रूप में उल्लेख; अपने देहावसान के समय बुद्ध का *चक्रवर्तिन* के रूप में सम्मान; गणमान्य भिक्षुओं के गुज़र जाने के साथ *संघ* का पतन; कश्मीर में एक अन्य मत की स्थापना; विभिन्न मतों में विभाजन तथा उनकी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

महावस्तु तथा *ललितविस्तार*

महावस्तु का संबंध *महासांघिक* पंथ से है। इसकी तिथि तीसरी शताब्दी सी ई में निर्धारित की गई है। इसको अंशतः मिश्रित संस्कृत में तथा अंशतः प्राकृत में लिखा गया है। यह ग्रंथ बुद्ध के पूर्व जन्मों की कहानियाँ बताता है तथा इसके बाद गौतम बुद्ध का वर्णन आता है। शाक्यों और कोलियों की उत्पत्ति के बाद बुद्ध के जीवन की घटनाओं, उनके जन्म, गृह-त्याग, *बोधि* प्राप्ति, *धर्म-चक्र प्रवर्तन*, उनके अनुयादियों तथा लोगों का उनके धर्म में शामिल होना और अंततः महानिर्वाण प्राप्त होने का वर्णन किया गया है। इस विवरण के बीच में *जातक* जैसी नैतिक कहानियों को भरा गया है।

ललितविस्तार में बुद्ध के जीवन पर विचार किया गया है। बुद्ध को तुषित स्वर्ग से अवतरित बताया गया है। उनकी जीवन-कथा *निदान कथा* के अनुरूप वर्णित की गई है।

धीरे-धीरे इस समय तक ये जीवनियाँ प्रशंसापूर्ण जीवन चरित्रों में बदल रही थीं। बुद्ध का ऐतिहासिक स्वरूप धूमिल पड़ रहा था और वह अब धर्म का साक्षात स्वरूप ग्रहण करते जा रहे थे। यह भी कहा जाने लगा कि बुद्ध अविनाशी हैं तथा उनका *निर्वाण* घटित नहीं हुआ था।

दिव्यावदान

संघ के श्रेष्ठ संरक्षणदाता के रूप में सम्राट अशोक के कृत्यों को *दिव्यावदान* की रचना के कुछ खंडों में शामिल किया गया है जो एक तरह की ऐतिहासिक परम्परा की ओर उन्मुख नज़र आता है। इन खंडों में अशोक मौर्य, उसके पुत्र कुणाल तथा उसके छोटे भाई विताशोक के जीवन से जुड़े प्रसंगों को शामिल किया गया है। इन खंडों को क्रमशः *अशोकावदान, कुणालावदान* तथा *विताशोकावदान* कहा गया है। इनकी तिथि लगभग तीसरी शताब्दी सी ई है किंतु पुरानी मौखिक व लिखित रचनाओं पर इन कृतियों ने स्वयं को आधारित किया है।

अशोकावदान मौर्य वंश के इतिहास का वर्णन करती है जिसमें अशोक तथा उसके पुत्र से संबंधित कथाओं के बीच में बुद्ध के काल से उत्तर भारत में अस्तित्व में रहे बौद्ध *संघ* के वरिष्ठ भिक्षुओं का इतिहास भी शामिल कर लिया गया है। अशोक को एक आदर्श तथा *चक्रवर्तिन* राजा के रूप में पेश किया गया है। इस ग्रंथ की रचना उस समय हुई जब बौद्ध धर्म एक स्थानीय संप्रदाय से एक सुस्थापित धर्म में तब्दील हो रहा था। गंगा के मैदानों और मध्य भारत में इसके अनुयायियों की संख्या काफ़ी थी। इसके शीघ्र बाद ही उत्तरी बौद्ध धर्म का विस्तार उत्तर-पश्चिमी भारत तथा मध्य और पूर्वी एशिया में हुआ। रोमिला थापर मानती हैं कि यह आवश्यक था कि बौद्ध धर्म के इतिहास की प्रमुख घटनाओं को सुरक्षित करने के लिए एक ऐतिहासिक परम्परा का सृजन किया जाए, अतः संगीतियाँ तथा *थेरवादी* भिक्षुओं के संबंध में शब्द-चित्रों को लेखबद्ध करने की शुरुआत हुई। इन विवरणों को किसी ख़ास राजनीतिक व्यक्तित्व के साथ, जैसे अशोक के साथ, जोड़कर यह परम्परा अधिक गंभीरता से लिए जाने का अवसर पा सकती थी।

जैसे-जैसे बौद्ध धर्म नए क्षेत्रों में विस्तार कर रहा था और नव-दीक्षितों को आकर्षित कर रहा था जीवनीपरक लेखन महत्वपूर्ण बनता गया। *चरित* शैली का इस्तेमाल न केवल बुद्ध की ऐतिहासिकता स्थापित करने के लिए किया गया, जो वैसे ही पूर्व-स्थापित हो चुकी थी, बल्कि *संघ* से जुड़ी घटनाओं की सत्यता को स्थापित करने के लिए भी किया गया। बुद्ध इस विमर्श के केंद्र में हैं किंतु उनसे पूर्व के बुद्ध के एक अनुक्रम को भी स्थान दिया गया जो इन शिक्षाओं को प्राचीनता और वैधता प्रदान करने का एक प्रयास था। बहरहाल, जिस तरह से सावधानीपूर्वक स्रोतों का उल्लेख किया गया था उसमें प्रामाणिकता के प्रति चिंता भी दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धर्म के कुछ आयाम, जैसे *प्रतीत्यसमुत्पाद* (पर-निर्भर उत्पत्ति) के विचार ने ऐतिहासिक व्याख्या की समझ को व्यापक बनाने में सहायता की। चूँकि कार्य-कारण प्रकृति का नियम था अतः दैवीय हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं रह गई थी। कर्मों के माध्यम से कारण और कार्य की श्रृंखला अतीत की घटनाओं के "क्यों" और "कैसे" की व्याख्या भी प्रस्तुत करती थी।

बौद्ध परम्परा में जीवनियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं क्योंकि यह एक नई शैली थी जो इस तथ्य पर बल देती थी कि बौद्ध धर्म के संस्थापक एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। इस प्रकार इतिहास का आह्वान किया जाता था। इस जीवनी में उत्पत्ति-संबंधी मिथक, वंशावलियाँ आदि, जो व्यक्ति-विशेष पर अधिक केंद्रित थे, शामिल थे। यह दोनों प्रकार के ग्रंथ – इतिवृत्त तथा जीवनियाँ – महत्वपूर्ण रूप से एक समुदाय की पहचान सृजित करती हैं और यह पहचान इस पर निर्भर करती है कि इतिहास को किस रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

3.7 अन्य धारणाएँ

बौद्ध ऐतिहासिक परम्परा में दो तत्व महत्वपूर्ण हैं। इस तथ्य के अतिरिक्त कि अन्य वैकल्पिक परम्पराओं की तुलना में यह इतिहास के अधिक सुस्पष्ट बोध से परिपूर्ण है, इसकी प्रामाणिकता इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि बुद्ध की शिक्षाओं तथा *संघ* के माध्यम से बुद्ध की शिक्षाओं का जो प्रचार हुआ है वह किसी भी विमर्श का केन्द्रीय तत्व है। पाली ग्रंथ *संघ* की व्यवस्था के इतिहास को सुरक्षित रखते हैं। इनमें हम देखते हैं कि यह मौखिक विवरण से लिखित ग्रंथों में रूपांतरित होते हैं जिसका

निर्धारण कई संगीतियों के माध्यम से हुआ था। विभिन्न पंथों को संगीतियों के माध्यम से मान्यता दी जाती है। *संघ* की सत्ता इसे एक राजनीतिक सत्ता – अजातशत्रु, अशोक, कनिष्क – से जोड़कर उच्चतम स्थान ग्रहण कर लेती है। *हीनयान* तथा *महायान* के बीच विभाजन एक महत्वपूर्ण विकासक्रम था। *महायान* बौद्ध धर्म या उत्तरी बौद्ध सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के इतिहास को बुद्ध तथा अन्य प्रमुख संरक्षणदाताओं व महापुरुषों की जीवनी के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। रोमिला थापर का विश्वास है कि उन क्षेत्रों में जहाँ बुद्ध के मत को प्रतिस्पर्धी मतों ने बाधित किया या जहाँ *संघ* शक्तिशाली नहीं था वहाँ बौद्ध धर्म की सत्ता स्थापित करने के लिए जीवनियों का उपयोग किया गया। क्रमिक रूप से ये जीवनियाँ *बोधिसत्व* की अवधारणा के बढ़ते महत्व पर बल देने वाली प्रशस्तिपूर्ण जीवनियों में बदल गईं। पौराणिक धर्मों ने इन विधर्मी मत-सम्प्रदायों का अनुकरण करते हुए *मठों* की स्थापना की और ये *मठ/पीठ* भी इतिहास का समान उपयोग करने की ओर अग्रसर हुए।

बोध प्रश्न-2

1) श्रीलंका के पाली इतिवृत्तों के संदर्भ में अतीत-संबंधी बौद्ध निर्मिति की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

2) चर्चा कीजिए कि कैसे बौद्ध जीवनियाँ अतीत-संबंधी बौद्ध दृष्टिकोण का वर्णन करती हैं?

.....

.....

.....

3.8 सारांश

प्रारंभिक भारत में तीन प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराएँ थीं। इनमें प्रधान परम्परा *इतिहास-पुराण* परम्परा थी। इसका श्रेय ब्राह्मण लेखकों को दिया जाता है जो शासकों के विषय में लिख रहे थे। दूसरी तरह की ऐतिहासिक परम्परा चारणों/सूतों की रचनाएँ थीं। ऐसा माना जाता है कि उनकी रचनाओं का ब्राह्मणों द्वारा पुनर्लेखन किया गया जिससे रचनाओं को मूल रूप में चिह्नित करना मुश्किल है। तीसरी परम्परा वह थी जो *श्रमणों* से संबंध रखती थी। इस परम्परा में राजा/शासक बौद्ध तथा जैन *संघों* की शिक्षाओं से जुड़े हुए थे। इस इकाई में हमने इस तीसरी परम्परा की विस्तार से चर्चा की है। *श्रमण* परम्परा एक अधिक नगरीय परिवेश में स्थित थी तथा इसका सरोकार बौद्ध धर्म तथा इसके संरक्षकों के क्रमिक विकास से था। *पुराणों* की रचना से अधिक पहले ही *श्रमण* धर्मों के कई मत-पंथ बन चुके थे। उन्होंने दूर देशों में अभियान भेजे, वे संपत्ति धारण करते थे, राजसी अनुकम्पा का उपभोग करते थे तथा बुद्ध के उपदेशों और *संघ* के इतिहास का संकलन कर रहे थे। विभिन्न बौद्ध संगीतियों का इतिहास दर्ज करने वाले पाली ग्रंथ; *संघ* तथा राजपुरुषों (अजातशत्रु, अशोक, कनिष्क) के बीच राजकीय संबंध; *मठों* का इतिहास; श्रीलंका का *महाविहार*; बुद्ध की जीवनियाँ जो उत्तरी परम्परा के इतिहास को अभिव्यक्त करती हैं – इस इकाई में अन्य पहलुओं के साथ इन सभी की चर्चा की गई है जो साथ में मिलकर इतिहास की *श्रमण* परम्परा का निर्माण करते हैं।

3.9 शब्दावली

श्रमण	*श्रमण* पारिभाषिक शब्द 'श्रम' अर्थात प्रयत्न करने से व्युत्पन्न है जो पुनर्जन्म से मुक्ति – *मोक्ष* – की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। जैन तथा बौद्ध *श्रमण* धर्म थे
उपनिषद	ब्रह्म-संबंधी ज्ञान, अर्थात परमसत्य के ज्ञान, पर लिखे गए ग्रंथ
विधर्मी-मत (Heterodox)	धार्मिक जीवन के संदर्भ में रूढ़िवादिता का मतलब स्थापित आदर्श नियमों के अनुरूप उचित या उपयुक्त विश्वास से होता है; विधर्मी मतों से तात्पर्य इन रूढ़ियों से भिन्न मत-सम्प्रदायों से है।

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 3.2

2) देखें भाग 3.4

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 3.6.4

2) देखें उप-भाग 3.6.5

3.11 संदर्भ ग्रंथ

थापर, रोमिला, (2017) *द पास्ट बिफ़ोर असः हिस्टौरिकल ट्रडिशंज़ ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इंडिया* (नई दिल्लीः परमानेंट ब्लैक).

3.12 शैक्षणिक वीडियो

डिस्कवरिंग सेक्रेड टैक्स्ट्सः बुद्धिज़्म
https://www.youtube.com/watch\v=jex4R3-qJn8

व्हॉट आर बुद्धिज़्म्स्स' की टैक्स्ट्स?
https://www.youtube.com/watch\v=dYNWDFOBtQg

सैंस्क्रिट्राइज़ेशन एंड द डिक्शन ऑफ़ अली बुद्धिस्ट टैक्स्ट्स। एस.ओ.ए.एस. यूनिवर्सिटी ऑफ़ लंडन
https://www.youtube.com/watch\v=DINt32Yelgg

व्हॉट इज़ द पाली कैनन ऑफ़ बुद्धिज़्म?
https://www.youtube.com/watch\v=YIcnCqOALPs-t=89s

बुद्धचरित म्युरल्स ऐट द मोनैस्टरी सुधर्मराम इन कोलम्बो (श्रीलंका)
https://www.youtube.com/watch\v=g7ujWzPKxmY

बोरोबुदूर टैम्पल - फ़र्स्ट गैलरी – ललितविस्तार – ऐपिसोड-1
https://www.youtube.com/watch\v=aGdFue2wLJw

रिबर्थ नैरेटिव्स इन बुद्धिस्ट लिटेरेचर, इमेजिज़, एंड लैंडस्केप्स। एस.ओ.ए.एस. यूनिवर्सिटी ऑफ़ लंडन
https://www.youtube.com/watch\v=uK3iCmJYbYo

इकाई 4 *कथाएँ और चरित**

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 *काव्य* साहित्य

- 4.2.1 दरबारी संस्कृति के अवयव के रूप में *काव्य*
- 4.2.2 कालिदास के *काव्य*
- 4.2.3 राजाओं द्वारा रचित *काव्य*
- 4.2.4 प्रायद्वीपीय भारत के *काव्य* : संगम युग
- 4.2.5 प्रायद्वीपीय भारत के *काव्य* : उत्तर-संगम युग

4.3 *चरित* साहित्य

- 4.3.1 *हर्षचरित*
- 4.3.2 *बुद्धचरित*
- 4.3.3 *रामचरित*

4.4 अलंकृत साहित्यिक कृतियों के रूप में *काव्य* और *चरित*

4.5 ऐतिहासिक परिवर्तन के संकेतक के रूप में *काव्यों* और *चरितों* की भाषा में बदलाव

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.9 संदर्भ ग्रंथ

4.10 शैक्षणिक वीडियो

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्नलिखित तथ्यों से परिचित कराना है:

- *काव्य* और *चरित* ग्रंथ क्या हैं जिन्होंने गुप्त युग से शुरू होने वाली विपुल साहित्यिक गतिविधि को निर्दिष्ट किया,
- इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए वे किस प्रकार उपयोगी स्रोत हैं,
- इन साहित्यिक कृतियों में निहित एक ऐतिहासिक परम्परा जिसका तर्कसंगत अनुमान लगाए जाने की आवश्यकता है,
- *काव्य* जो पाठ्य और रचनात्मक साहित्य के उत्पादन में नए उच्च और उत्तम मानकों की स्थापना का कारण बने,
- कुछ महत्वपूर्ण *चरित* रचनाएँ जिनके बारे में आपको जानना चाहिए, तथा
- *काव्यों* और *चरितों* की भाषा में परिवर्तन को एक ऐतिहासिक परिवर्तन के संकेत के रूप में कैसे देखा जा सकता है।

* **डॉ. अभिषेक आनंद, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**

4.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम को पढ़ने के बाद आपको विभिन्न स्रोतों जैसे *दान-स्तुतियों, गाथाओं, आख्यान* परम्परा, महाकाव्यों, *इतिहास-पुराण* परम्परा, बौद्ध और जैन परंपराओं, शिलालेखों, संगम साहित्य, आत्मकथाओं/जीवनियों एवं *भक्ति* साहित्य, पारिवारिक इतिहास (*वंशावलियों*), इत्यादि में ऐतिहासिक जागरूकता की अभिव्यक्ति, प्रस्तुति और प्रतिनिधित्व की व्यापक समझ होगी। ऐतिहासिक चेतना विभिन्न रूपों में स्रोतों की एक विस्तृत और विविध श्रेणी में अंतर्निहित है और इस इकाई में हम *काव्यों* और *चरितों* के बारे में अध्ययन करेंगे जिनके प्रचुर लेखन ने उनकी समकालीन घटनाओं, विकासों और परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जो हमें उस इतिहास के पुनर्निर्माण और पुनर्कल्पना में सहायता प्रदान करते हैं। जैसा कि रोमिला थापर (2013: 4) ने दिलचस्प टिप्पणी की है, 'ऐतिहासिक परम्पराएँ अतीत के ज्ञान से निकलती हैं', हम देखेंगे कि कैसे *काव्यों* और *चरितों* में एक अलग ऐतिहासिक परम्परा की शुरुआत की गई एवं कैसे उसे आत्मसात तथा प्रसारित किया गया।

गद्य शैली में *कथा* साहित्य पर **इकाई 2** में चर्चा की गई है। इसलिए इस इकाई में हम *कथा* शैली के तहत *काव्य* साहित्य के बारे में बात करेंगे। इसमें हमारा ध्यान कविताओं और नाटकों, दोनों, पर केंद्रित रहेगा।

4.2 *काव्य* साहित्य

धर्मशास्त्रों को लिखा जा चुका था और पहली सहस्राब्दी सी ई की प्रारंभिक शताब्दियों में उन्हें अंतिम आकार दिया जा रहा था। पाणिनी का *अष्टाध्यायी* (लगभग 500-400 बी सी ई) और पाणिनी के *अष्टाध्यायी* पर पतंजलि की टीका (commentary) – *महाभाष्य* (दूसरी-तीसरी शताब्दी बी सी ई) – जैसे व्याकरण-संबंधी निबंधों ने संस्कृत साहित्य के विकास और फलने-फूलने की नींव रखी। इस काल के दौरान रचनात्मक साहित्य राजाओं और उनके दरबारों के संरक्षण में फला-फूला।

गुप्त काल से *काव्य* परम्परा एक पहचान बन गई। पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-132** की **इकाई 15** में हमने गुप्त काल में साहित्यिक गतिविधि के प्रस्फुटन और प्रचुरता, संस्कृत साहित्य के प्रभावशाली विकास और परिष्करण, और संस्कृत ग्रंथों के उत्कृष्ट लेखन पर चर्चा की। *काव्य* और *चरित* इस समय के दौरान और आने वाले समय में बहुतायत से लिखे गए। गुप्त काल से योग्य और प्रतिष्ठित लेखकों और राज्यों के दरबारी-कवियों ने नाटकों और कविताओं की रचना शुरू की। थापर (2002: 259) इस वृत्तांत का अवलोकन प्रदान करते हुए कहती हैं:

> संस्कृत में कविता और गद्य बड़े पैमाने पर राज-दरबार, कुलीन/अभिजात वर्ग, शहरी अमीरों और ऐसे समाजों से जुड़े साहित्य थे।

इन रचनाओं की नगरीयता को कई इतिहासकारों ने रेखांकित किया है। पूर्वकालिक साहित्य से अलग यह साहित्य लेखकत्व, विषय और शैली में शहरी पृष्ठभूमि पर केंद्रित है। इन ग्रंथों में तक्षशिला, मथुरा, शिशुपालगढ़, महास्थान, नागार्जुनकोंडा, कावेरीपट्टिनम, आदि नगरों के संदर्भ में विशिष्ट नगरीय जीवन स्पष्ट है।

आप इस इकाई में बाद में '*चरित* साहित्य' भाग के तहत अश्वघोष के *बुद्धचरित* के बारे में पढ़ेंगे। उन्होंने *वज्रसूची* नामक एक बौद्ध कविता भी लिखी जिसमें ब्राह्मणों और उनकी सामाजिक व्यवस्था की आलोचना की गई है।

इस युग से संबंधित रचनात्मक साहित्य का बड़ा हिस्सा बाद की अवधि में नाटक-कला, कविता और साहित्यिक सिद्धांत पर शोध और अध्ययन का स्रोत बन गया। कालिदास (आप उनके और उनकी साहित्यिक कृतियों के बारे में इस इकाई में आगे पढ़ेंगे) के प्रभावशाली योगदान के बाद संस्कृत में रचनात्मक साहित्य को शानदार भव्यता मिली:

1) भारवि ने *किरातार्जुनीय* लिखा (इसका कथानक *महाभारत* के एक विषय से लिया गया है: अर्जुन का शिव के साथ संघर्ष),
2) माघ ने कई साहित्यिक कृतियों, जैसे *शिशुपालवध* और *भट्टिकाव्य*, की रचना की,

3) भवभूति ने *मालती-माधव* की रचना की।

काव्यात्मक और गद्य अयथार्थपूर्ण (romantic) कथाएँ अक्सर महाकाव्यों और पौराणिक कथाओं या परिचित आख्यानों के विषय-वस्तुओं पर आधारित होती थीं जो, जैसा कि थापर (2002: 311) कहती हैं, 'दरबारी शैली में लिखी गईं और कई प्रकार के साहित्यिक गुणों से भरपूर' होती थीं। कथात्मक पहलू कई मामलों में भाषाई अलंकरण के अधीन था। सक्षम और प्रतिभाशाली साहित्यिक विद्वानों, जैसा कि थापर (2002: 345) दिलचस्प रूप से बताती हैं, 'जो साहित्यिक कला में लिप्त और प्रशंसित थे', का शाही दरबारों में स्वागत किया जाता था, उन्हें संरक्षण मिलता था और उन्हें नियोजित किया जाता था। परिष्कृत रूप से रचित गीतात्मक काव्य राजसी वर्ग को बहुत आकर्षित करता था।

इनमें से अधिकांश नाटक प्रेम प्रसंग-युक्त हास्य-प्रधान नाटक थे। दुखद कहानियाँ कम थीं, शायद इसलिए कि रंगमंच का उद्देश्य मनोरंजन था। नाटककार शूद्रक, जो शाही वंश से थे, ने प्रसिद्ध *मृच्छकटिका* (चिकनी मिट्टी की छोटी गाड़ी) लिखी थी। इसकी मूल कहानी गरीब ब्राह्मण व्यापारी चारूदत्त और एक सुंदर, सुसंस्कृत, निपुण और संपन्न गणिका वसंतसेना के मध्य प्रेम के बारे में है। इसे प्राचीन भारतीय नाटकों की सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुतियों में से एक माना जाता है। यह हमें शहरी तरीकों और जीवन की झलक प्रदान करता है। कवि विशाखदत्त ने *मुद्राराक्षस* नामक अपने नाटक में मौर्यों द्वारा नंदों के शासन के अंत को वर्णित करते हुए अतीत की राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश डाला है। यह चंद्रगुप्त मौर्य के सत्ता में आने का उल्लेख करता है। यह मौर्य काल के कई शताब्दियों बाद लिखा गया। इतिहासकार इस ग्रंथ के आधार पर चंद्रगुप्त मौर्य और कौटिल्य के साथ उसके जुड़ाव के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाए। थापर (2002: 175-76) हमें बताती हैं कि जब चंद्रगुप्त सिंहासन पर बैठा था, 'वह तब एक युवा था और माना जाता है कि वह ब्राह्मण कौटिल्य (जिसे चाणक्य के नाम से भी जाना जाता है) के आश्रित था जो सिंहासन प्राप्त करने और उसे बनाए रखने, दोनों में, चंद्रगुप्त का मार्गदर्शक और संरक्षक था। यह कहानियों की एक श्रृंखला द्वारा सुझाया गया है, विशेष रूप से बौद्ध और जैन ग्रंथों से, और नाटक *मुद्राराक्षस* द्वारा भी जो चंद्रगुप्त के सत्ता में उदय से संबंधित है'। विशाखदत्त ने *देवीचंद्रगुप्तम* की भी रचना की जो गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के सत्ता में आने की कहानी बताती है। दोनों साहित्यिक रचनाओं में हमें शाही दरबार की कार्यप्रणाली, बारीकियों और पेचीदगियों के दिलचस्प तत्व मिलते हैं लेकिन थापर (2002: 312) टिप्पणी करती हैं कि 'ये काफ़ी भिन्न हैं और बदलते ऐतिहासिक संदर्भों के प्रति उनकी संवेदनशीलता को दर्शाते हैं'।

पंचतंत्र की कहानियाँ एक युवा राजकुमार को दुनिया के तौर-तरीकों से अवगत कराने की दृष्टि से लिखी गईं। बाद में, उन्हें विभिन्न संस्करणों में विस्तृत किया गया और अनुवाद के माध्यम से पश्चिम में भी *पंचतंत्र* की कहानियाँ पहुँचीं। भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमांत और यूनानी भूमि के बीच समुद्री व्यापार के माध्यम से यूनानी-रोमन दुनिया के साथ सांस्कृतिक परस्पर क्रिया और विचारों और कलाकृतियों के आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप, जैसा कि थापर (2002: 253) हमें बताती हैं:

> भारतीय लोक-कथाएँ और दंतकथाएँ पश्चिम पहुँचीं और *पंचतंत्र* जैसे संग्रहों का बाद में पड़ोसी भाषाओं में अनुवाद किया गया, जो यूरोपीय साहित्य में विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं जो शायद ईसप/एसोप (Aesop)[1] की दंतकथाओं के कुछ संस्करणों को भी शामिल करते हैं।

सुबंधु का *वासवदत्ता* अपनी साहित्यिक गुणवत्ता के लिए प्रसिद्ध था। बाणभट्ट ने राजा हर्ष की जीवनी के साथ-साथ एक काल्पनिक प्रेम प्रसंग-युक्त उपन्यास भी लिखा जिसका शीर्षक *कादंबरी* है। इस उत्कृष्ट कृति के बारे में थापर (2002: 312) टिप्पणी करती हैं कि इसका 'कथानक इतना जटिल है कि पाठक या श्रोता वास्तविक मूलकथा की संरचना को लगभग खो देता है'। साहित्यिक रूपों में इस तरह की गहन रचनात्मकता की एक विशिष्ट विशेषता है कि ये कविताएँ और नाटक बड़े पैमाने पर मानव व्यवहार को दर्शाते हैं और प्रतिबिंबित करते हैं, भले ही वह समाज का एक निश्चित वर्ग या खंड – राजसी वर्ग – ही क्यों न हों। कुल मिलाकर, इनकी पृष्ठभूमि और संदर्भ शाही दरबार, शाही जीवन शैली, आदि हैं। हालांकि हमारे पास एक अपवाद भी है – *कथासरितसागर* (कहानियों की धाराओं का महासागर) जो 11वीं शताब्दी सी ई में सोमदेव द्वारा लिखी गई थी। यह दरबारी और

[1] यूनानी कहानीकार ईसप (लगभग 620-564 बी सी ई) ने कई कहानियाँ लिखीं जिन्हें अब सामूहिक रूप से ईसप की दंतकथाएँ कहा जाता है।

लोक विषयों के मिश्रण पर आधारित गद्य कहानियों का एक संकलन है, जिनमें से कुछ सुदुर देशों की यात्राओं पर भाष्य हैं।

राजशेखर के *कर्पूरमंजरी* और कृष्ण मिश्र के *प्रबोध-चंद्रोदय* जैसे प्रसिद्ध नाटकों में तीखे संवाद के रूप में धार्मिक/सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता दिखाई देती है। बौद्ध और जैन भिक्षुओं व भक्तों पर व्यंग्य किया जाता है और *कौल* [2] जैसे कुछ तांत्रिक शैव संप्रदायों की निंदा और उनका उपहास किया गया। इस तरह के शैव कर्मकांडों का तिरस्कार किया गया है। यह शाही दरबार के साथ-साथ सामान्य जन के बीच नए उभरते हुए पंथों पर चर्चा करने या कम से कम उन्हें पहचाने की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है।

4.2.1 दरबारी संस्कृति के अवयव के रूप में *काव्य*

जैसा कि हमने देखा, *काव्य* शैली दरबारी संस्कृति का अभिन्न अंग थी। इसे उपयुक्त रूप से अलंकृत दरबारी कविता कहा जा सकता है। कभी-कभी एक *काव्य* रचना इतनी कुशलता से लिखी जाती थी कि इसे आगे और पीछे, दोनों, तरह से पढ़ा जा सकता था। प्रत्येक पठन में दो अलग-अलग कहानियाँ होती थीं, जैसे कि एक पठन में *रामायण* की कथा और दूसरे में *महाभारत* की होती थी। इन रचनाओं को शाही दरबार की राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त संस्कृत माध्यम में लिखा गया था जिसका उपयोग अब व्यापक रूप से अपनाया गया, उसका अभ्यास किया गया और उसे प्रचारित किया गया और साहित्यिक मंडलियों में प्रोत्साहित किया गया। हालांकि, थापर (2002: 259) इन संस्कृत नाटकों के लक्षित/आशयित दर्शकों के बीच अंतर की पहचान करते हुए इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं:

> अश्वघोष के नाटकों के अंश मध्य एशिया के तुर्फ़ान (Turfan) में एक दूर के *मठ* में पाए गए। श्रोताओं की रुचि बौद्ध विषयों में उतनी ही रही होगी जितनी कि साहित्य की अपेक्षाकृत इस नई शैली में। एक अधिक कुशल नाटककार भास[3], जिसने प्रसिद्ध *स्वप्नवासवदत्तम* सहित कई नाटक लिखे, ने दरबारी मनोदशा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया ... भास के नाटकों के विषय महाकाव्यों या प्रेमलीला की ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित थे और दरबारी दर्शकों ने राजाओं के कामुक कारनामों का आनंद लिया। भास ने दरबारी अभिजात वर्ग के सीमित दर्शकों के लिए लिखा जबकि अश्वघोष के नाटकों को धार्मिक सभाओं में व्यापक दर्शकों के लिए प्रदर्शित एवं प्रस्तुत माना जा सकता है।

4.2.2 कालिदास के *काव्य*[4]

महानतम और सबसे असाधारण संस्कृत कवि/नाटककार जिन्होंने संस्कृत साहित्य को जबरदस्त गति दी वह कालिदास थे। उनके योगदान ने संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा को बहुत बढ़ाया और उनके लिखित रत्नों ने बाद में रचित कई काव्यों के लेखन को प्रभावित किया। वे चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के थे तथा गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के दरबार के 'नौ रत्नों' (*नवरत्नों*) में से एक थे। उन्होंने *अभिज्ञान-शाकुंतलम, मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोर्वशियम* जैसे नाटक और *रघुवंशम, ऋतुसंहार, कुमारसम्भवम* और *मेघदूतम* जैसी काव्य रचनाएँ लिखीं जो नायाब साहित्यिक मानकों को दर्शाते हैं। ये चमत्कारिक कृतियाँ मौखिक और छंदपूर्ण प्रवीणता में बेजोड़ हैं। कहा जाता है कि वह विद्या की विभिन्न शाखाओं से परिचित थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने संपूर्ण वैदिक कोष, *योग* और *सांख्य* जैसी दार्शनिक प्रणालियों के साथ-साथ चित्रकला और संगीत जैसी ललित कलाओं का ज्ञान भी प्राप्त किया था।

यदि एक ओर शकुंतला की कहानी और शकुंतला के प्रेमी राजा दुष्यंत के साथ उसका अंतिम पुनर्मिलन उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है जो प्राचीन भारतीय साहित्य और मंच-कला की सर्वोच्च उपलब्धि है तो दूसरी

---

[2] *कौलाचार* ('*कौल* व्यवहार') और *कौलामार्ग* (*कौल* मार्ग, पथ या प्रथा) के रूप में भी जाना जाता है। यह पहली सहस्राब्दी सी ई के दौरान तांत्रिक शैववाद और शक्तिवाद के तहत एक परम्परा थी। यह शिव एवं शक्ति की पूजा से जुड़े अपने विशिष्ट अनुष्ठानों और प्रतीकात्मकता द्वारा जानी जाती थी।

[3] वास्तव में हम उनके द्वारा लिखे गए 13 नाटकों के बारे में जानते हैं। वह एक महत्वपूर्ण कवि थे, जो प्रारंभिक गुप्त काल में अस्तित्व में थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में लिखा था लेकिन हम उनके नाटकों में प्राकृत का पर्याप्त उपयोग भी पाते हैं। उन्होंने *द्रदीराचारूदत्त* की रचना की थी। इस नाटक को *मृच्छकटिका* का अग्रदूत कहा जाता है। यह *द्रदीराचारूदत* था जिसे *मृच्छकटिका* के रूप में अपनाया और नया रूप दिया गया था। *यवनिका* शब्द का प्रयोग उन्होंने पर्दे के लिए किया है। यह यूनानियों के साथ संपर्क को इंगित करता है। यह माना जाता है कि भास कालिदास के पूर्ववर्ती थे।

[4] यह भाग हमारे पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-132** की डॉ. अभिषेक आनंद द्वारा लिखित **इकाई 15** से ग्रहित है।

ओर उनके *मेघदूतम* को संस्कृत में लिखी गई अब तक की सबसे उत्कृष्ट कविता के रूप में माना जाता है। यह एक दीर्घ गीतात्मक कविता है जो भौतिक परिदृश्य और प्राकृतिक छटा को मानवीय भावनाओं के साथ जोड़ती है।

अभिज्ञान-शाकुंतलम को विश्व भर में सर्वश्रेष्ठ 100 साहित्यिक रचनाओं में से एक माना जाता है। यह यूरोपीय भाषाओं में अनुवादित होने वाली शुरुआती भारतीय साहित्यिक कृतियों में से एक थी तथा *भगवद्गीता* दूसरी थी। समय के साथ इसका अनुवाद विश्व की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में किया जाने लगा। थापर (2002: 311) के अनुसार, इसे 'साहित्यिक आलोचकों द्वारा संस्कृत नाटक में एक मिसाल के रूप में माना जाता था। इसकी संस्कृत साहित्यिक सिद्धांत में व्यापक रूप से चर्चा की गई थी और बाद में संपूर्ण यूरोप में। इसके फलस्वरूप जर्मन रूमानवाद/स्वच्छंदतावाद (romanticism) पर इसके प्रभाव को देखा गया'।

मेघदूतम की रचना 100 से अधिक छंदों में गीतात्मक रूप से की गई थी। इस साहित्यिक चमत्कार में निर्वासित यक्ष अपने प्रेम, दाम्पत्य भक्ति और अपनी प्यारी पत्नी से अलग होने की पीड़ा को व्यक्त करता है। यह मानवीय भावनाओं और अनोखे अलंकारों से सुशोभित है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त उपमाएँ पाठकों/श्रोताओं को उनकी कल्पना, विविधता और उपयुक्तता के आधार पर आकर्षित करती हैं। भावनाओं और जोश को चित्रित करने में यह बेजोड़ है। *रघुवंशम* में उन्होंने राम की चौतरफ़ा जीत का गुणगान किया है और कहा जाता है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ गुप्त शासकों और उनकी उपलब्धियों की ओर इशारा करते हैं। *कुमारसंभवम* शिव और पार्वती के प्रेमालाप और उनके पुत्र कार्तिकेय/स्कंद/मुरूगन के जन्म के बारे में एक कहानी है। *ऋतुसंहार* में छह ऋतुओं का वर्णन मिलता है और यह साहित्यिक कृति श्रृंगार (सजावट और अलंकरण) के तत्वों से भरी है। *मालविकाग्निमित्रम,* अन्य बातों के अलावा, नाट्य की पूरी परिभाषा तथा एक कुशल नर्तक की विशेषताओं का उल्लेख करता है।





बाएँ: कालिदास का चित्रण
श्रेय: नेहल दवे एन.डी.
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/Category: K%C4%81lid%C4%81sa#/media/File:Kalidas.jpg
दाएँ: ऋषि दुर्वासा ने शकुंतला को उसके प्रेमी दुष्यंत के बारे में कल्पना में खो जाने के कारण शाप दिया: *अभिज्ञान शाकुंतलम* का एक प्रकरण, लगभग 1895
श्रेय: कोर बागान (Chore Bagan) आर्ट स्टूडियो
स्रोत: विकिमिडिया कॉमन्स; Wikimedia Commons; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Durvasa_ Shakuntala.jpg

4.2.3 राजाओं द्वारा *काव्य*

यह जानना दिलचस्प है कि एक सक्षम राजा और प्रशासक होने के अलावा हर्ष को तीन नाटकों (*प्रियदर्शिका, रत्नावली* और *नागानंद*) के लेखक होने का श्रेय दिया जाता है। इनमें से दो शास्त्रीय संस्कृत में परिहास-युक्त रचनाएँ हैं जबकि तीसरे में बौद्ध विचार से प्रभावित एक चिंतनशील विषय शामिल है।

लेकिन इतिहासकारों के बीच इस बात को लेकर अनिश्चितता है कि वह वास्तविक रचयिता हैं या केवल नाम के लिए उन्हें लेखकत्व दिया गया है। उनके दरबारी कवि बाणभट्ट ने उनके असाधारण काव्य-कौशल के लिए उनकी प्रशंसा की और कुछ बाद के भी शाही इतिहासकारों ने उन्हें एक साहित्यिक दिग्गज के रूप में माना और उनकी प्रशंसा की। हालांकि कई मध्ययुगीन विद्वानों ने उपरोक्त ग्रंथों के उनके लेखक होने पर संदेह किया। यह तर्क दिया जाता है कि उन्होंने कुछ अंशों का योगदान दिया होगा लेकिन जैसा कि एक लोकप्रिय कहावत है, आर. एस. शर्मा (2018 [2015]: 263) टिप्पणी करते हैं, '... शाही लेखक केवल आधे लेखक होते हैं'। कोई भी आसानी से समझ सकता है और अनुमान लगा सकता है कि एक शासक की छवि को निखारने के उद्देश्य से उसकी जीत और विजय अभियानों के अलावा कई अन्य उपलब्धियों, जिनमें बौद्धिक सोच और व्यवहार-कुशलता, लिखने की क्षमता और साहित्यिक उपलब्धियों जैसे विद्वतापूर्ण लेखन, का बखान प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में किया जाता था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के समय में हरिषेण[5] द्वारा शुरू की गई संरक्षक-राजा की स्तुति करने की यह प्रथा हर्ष के समय तक फैली हुई प्रतीत होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह अच्छी तरह से स्थापित और सामान्य हो गई थी। यह तार्किक रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके पीछे का उद्देश्य संरक्षक-राजा के पक्ष को जीतने के साथ-साथ उसके साथियों, प्रतिद्वंद्वियों और राज्य की प्रजा के बीच उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाना था। न केवल लेखन की कला और योग्यता बल्कि विशिष्ट लेखकत्व सम्राटों के साथ जुड़ गया और हर्ष के साथ भी ऐसा ही रहा होगा। हमारे पास बौद्धिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले राजकुमारों और राजाओं के संदर्भ हैं और जब साहित्यिक रचनाएँ 'उच्च संस्कृति' के रूप में मानी जाने लगीं तो यह स्वाभाविक ही था कि शासन करने वाले राजाओं को महत्वपूर्ण लेखन के लिए श्रेय दिया जाने लगा जो पहले की प्रवृत्ति नहीं थी। यह संस्कृत सीखने का एक संकेतक बन गया और विशेष रूप से दरबारी संस्कृति से जुड़ गया। संस्कृत भाषा में कौशल और प्रवीणता के एक गुणी प्रदर्शन के रूप में जागरूक साहित्यिक लेखन प्रचलन में आया। हमें शाही मंडलियों, मंदिरों और *मठों* से जुड़ी संस्थाओं में संस्कृत पढ़ाए जाने के संदर्भ मिलते हैं। लेकिन राजकुमारों के पास विशेष निजी शिक्षक थे।

हमें महेंद्रवर्मन प्रथम (600-630 सी ई) के बारे में भी पता चलता है जो उत्तर-पल्लव राज्य से संबंधित थे और कन्नौज (वर्तमान उत्तर प्रदेश में) के पुष्यभूति सम्राट हर्ष और चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय के समकालीन थे। हम पल्लव साम्राज्य के बढ़ते राजनीतिक नियंत्रण, ताकत और प्रभुत्व का श्रेय उन्हीं को देते हैं। वे प्रारंभिक तमिल सांस्कृतिक विकास के प्रबल प्रशंसक, पारखी और संरक्षक भी थे। कहा जाता है कि वे एक कवि और नाटककार भी थे और इसमें कुछ ख्याति प्राप्त करने में वे सफल भी रहे। उन्होंने एक हास्य-नाटक, जिसका शीर्षक *मत्तविलास प्रहसन* है, लिखा।

4.2.4 प्रायद्वीपीय भारत के *काव्यः* संगम युग

संगम साहित्य सबसे प्रारंभिक साहित्यिक स्रोत है जो *तमिलहम/तमिलकम* (शुरूआती तमिल भाषी दक्षिण भारत) पर विस्तृत जानकारी प्रदान करता है। यह इन प्राचीन समाजों में लोकप्रिय विषयों पर लघु और दीर्घ काव्यों का संग्रह है। उदाहरण के लिए, कई कविताएँ धावा बोलने और लूट के बारे में बताती हैं। कुछ दुल्हनों के अपहरण और कब्ज़ा करने के बारे में बताते हैं। ये सभी वीर साहित्य के लिए सामान्य विषय हैं। वे योद्धाओं और लड़ाइयों के एक वीर युग को उजागर करते हैं। उनमें से कई योद्धाओं, प्रमुखों या राजाओं के नाम, उनके सैन्य कारनामों, विजय अभियानों और अन्य उपलब्धियों का विस्तार से वर्णन करते हैं। कई दानप्राप्तकर्ताओं

[5] *प्रयाग–प्रशस्ति* अभिलेख में, जिसके बारे में आप अगली इकाई में पढ़ेंगे।

द्वारा दानदाताओं के रिश्तेदारों, योद्धाओं, कवियों और अन्य योग्य लाभार्थियों को उपहार और दान देने की प्रशंसा की गई है।

किंवदंती है कि राजाओं और प्रमुखों के संरक्षण में तीन सम्मेलन (*संगम*) आयोजित किए गए थे। तृतीय और आखिरी *संगम* मदुरै में हुआ था जहाँ तमिल कवि इकट्ठे हुए और उनकी रचनाओं को संगम काव्य संग्रह में शामिल किया गया था जो तीन से चार शताब्दियों की अवधि में संकलित हुआ। इसका यथार्थ तिथि-निर्धारण समस्याओं से मुक्त नहीं है जो एक ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इसके महत्व, दायरे और उपयोगिता को जटिल बनाता है। आमतौर पर इसका कालखण्ड सामान्य युग की पहली चार शताब्दियों का माना जाता है। हालांकि शर्मा (2018 [2015]: 23) पुष्टि करते हैं कि इसका अंतिम संकलन छठी शताब्दी तक चला। इस संग्रह में आठ संकलनों में व्यवस्थित कविताओं की लगभग 30,000 पंक्तियाँ शामिल हैं। संगम ग्रंथों में कई परतें हैं लेकिन वर्तमान में इन्हें विषय और शैली के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता है। हालांकि सामाजिक विकास के चरणों के आधार पर उनका पता लगाया जा सकता है। इनमें मुख्य रूप से *एट्टुतोगइ/एट्टुतोकई* (अष्ट संग्रह) के नाम से जाना जाने वाला प्रारंभिक स्तर और कुछ हद तक बाद का *पत्तुपट्टू* (*Pattupattu*; दशगीत) कहा जाता है।



महर्षि (महान् ऋषि) अगस्तयार, परंपरागत रूप से माना जाता है कि उन्होंने प्रथम तमिल संगम की अध्यक्षता की थी

बारहवीं शताब्दी की प्रस्तर प्रतिमा, लखी सराय, बिहार से प्राप्त और लॉस एंजिल्स काउंटी म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट, अमरीका में संरक्षित

साभार: विकिपीडिया लव्स आर्ट पार्टिसिपेंट 'टीम-ए'

स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wikiFile:WLA_lacma_12th_century_Maharishi_Agastya.jpg

इन कविताओं का विशेष रूप से उल्लेखनीय पहलू परिस्थितिक जागरूकता और पर्यावरणीय चिंताओं और धारणाओं के साथ मानवीय गतिविधियों का सहसंबंध है। यह पाँच पर्यावरणीय क्षेत्रों (भौगोलिक क्षेत्रों की अपनी विशिष्ट विशेषताओं जैसे जलवायु, मिट्टी की स्थिति, सामाजिक समूहों और निर्वाह-प्रतिरूपों) को सूचीबद्ध करता है जिन्हें *ऐनतिणई* (*Aintinai*) अर्थात पाँच *तिणै* /*तिनै* (क्षेत्र) कहा जाता है:

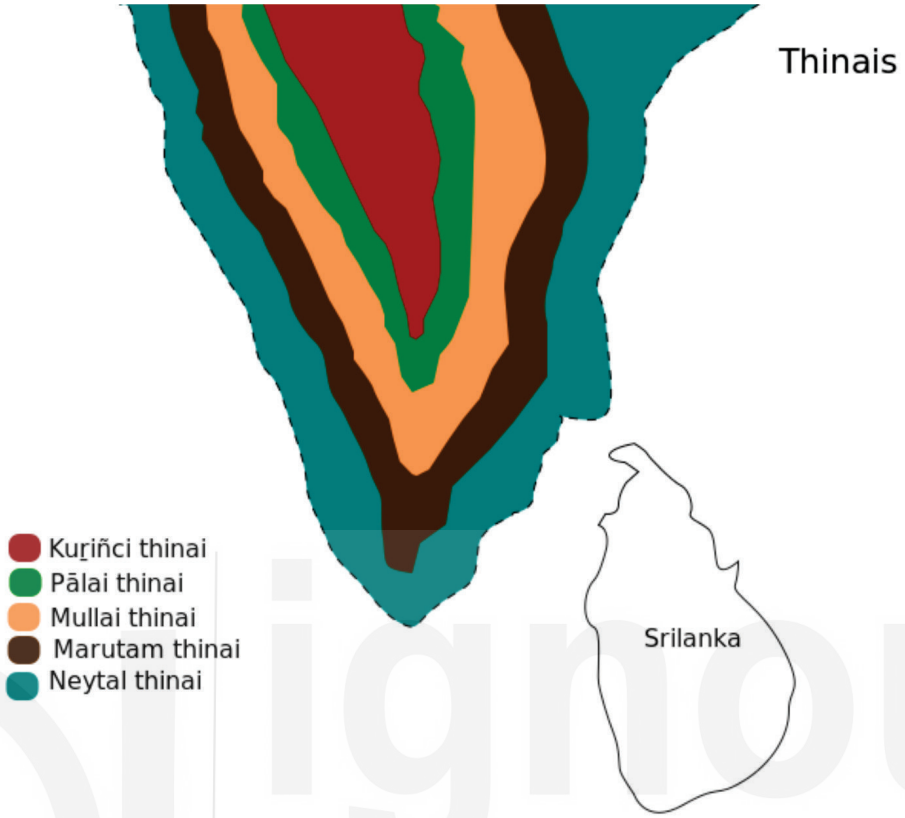
क) *कुरिंजी* (जंगल और पर्वतीय क्षेत्र): यहाँ शिकारी और वे लोग, जो झूम-कृषि (slash-and-burn cultivation) में संलग्न थे, रहते थे।

ख) *मुल्लई* (निचली पहाड़ियों और पतले जंगलों वाले पशुचारण क्षेत्र): पशुपालकों और स्थानांतरित खेती में संलग्न लोगों के आवास।

ग) *मरुतम* (आर्द्रभूमि, उपजाऊ कृषि मैदान): इसकी आर्थिक गतिविधि कृषि तथा उससे संबंधित कार्यकलाप थे। यहाँ हल का उपयोग करने वाले कृषकों, मुख्यतः चावल की खेती करने वाले किसानों का निवास था।

घ) *नेयतल* (समुद्री तट): मछुआरों, नमक बनाने वालों और मोती-गोताखोरों का निवास।

ड) *पालई* (शुष्क भूमि): यह क्षेत्र लुटेरों के लिए बदनाम था जो आखेट और डकैती में संलग्न थे। इन पारिस्थितिक क्षेत्रों को स्पष्ट रूप से सीमांकित और अलग नहीं किया जा सकता था।



श्रेयः प्रवीणपी

स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Thinai_en.svg

संगम साहित्य धार्मिक साहित्य नहीं है। संगम कवियों ने विभिन्न नायकों और नायिकाओं की प्रशंसा करते हुए इन कविताओं की रचना की। इस प्रकार यह धर्मनिरपेक्ष साहित्य की श्रेणी में आता है और आदिम गीति-काव्य होने के बावजूद जब वे बाद में लिखे गए तो उनमें उच्च साहित्यिक गुणवत्ता और योग्यता के तत्व शामिल थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कविताओं का पाठ राजदरबार में किया जाता था। वे कुछ चेर शासकों का उल्लेख करते हैं जो पहली और दूसरी शताब्दी सी ई के शिलालेखों में दान-कर्ताओं के रूप में भी दिखाई देते हैं। उन्होंने कावेरीपट्टिनम जैसी कई नगरीय-बस्तियों का भी उल्लेख किया है जिनका समृद्ध अस्तित्व पुरातात्विक रूप से प्रमाणित है। वे यवनों के अपने जहाजों में आने, सोने के बदले काली मिर्च खरीदने और मूल निवासियों को महिला दासों और मदिरा की आपूर्ति करने की भी बात करते हैं। इस व्यापार की जानकारी न केवल लैटिन और यूनानी लेखन से मिलती है बल्कि पुरातात्विक खोजों से भी इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार, समस्याग्रस्त तिथि-निर्धारण के बावजूद संगम काव्य संकलन पहली सहस्राब्दी सी ई की प्रारंभिक शताब्दियों में तमिलनाडु के नदी के डेल्टाई क्षेत्र (deltaic) के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिदृश्य पर ऐतिहासिक जानकारी का एक प्रमुख स्रोत है। इससे व्यापार और वाणिज्य पर जो जानकारी मिलती है उसकी पुष्टि विदेशी लेखन और पुरातात्विक अभिलेखों से होती है।

आप **इकाई 7** में संगम साहित्य में ऐतिहासिक चेतना के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

4.2.5 प्रायद्वीपीय भारत के *काव्यः* उत्तर-संगम युग

संगम के बाद के युग में भी हमें प्रायद्वीपीय भारत में क्षेत्रीय राज्यों के काव्य मुख्यतः दो भाषाओं में मिलते हैं: क) तमिल; ख) कन्नड़।

प्रारंभिक और मध्य-शताब्दी सी ई में तमिल में गीत और महाकाव्य दोनों प्रकार की काव्यात्मक रचनाओं की शुरुआत हुई। पहले के समय की उपदेशात्मक कविताओं, जैसे कि *कुरल/कुराल* (*Kural*) और *नालडियार* (*Naladiyar*), जो अक्सर जैन प्रेरणा व परम्परा पर आधारित होते थे, का पाठ किया जाता

था। *शिलप्पादिकारम/शिलप्पदिकारम* और *मणिमेकलई/मणिमेखलै* नामक दो विस्तृत तमिल महाकाव्यों ने पहली सहस्राब्दी सी ई के मध्य में तमिल में एक स्वतंत्र एवं परिपक्व काव्य शैली की शुरुआत की। *शिलप्पादिकारम/शिलप्पदिकारम* के रचयिता इलंगो आदिगल/अडिगल शाही परिवार के सदस्य थे और यह स्पष्ट है कि वह जैन *श्रमणों* के प्रति पक्षपाती थे क्योंकि कुछ धार्मिक उदारवाद के बावजूद यह रचना *कर्म* (मानव क्रिया) और *अहिंसा* पर ज़ोर देने वाली भावना और स्वभाव से प्रभावित है।



मरीना सागरतट, चेन्नई में *शिलप्पदिकारम* के लेखक इलंगो आदिगल की मूर्ति
सामारः रोकेश-5-**सुथर**
स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki File: Ilango_ Adigal _ statue _ at_Marina_Beach_closeup.jpg

एक व्यापारी परिवार से आने वाले चितलाई चतनार (Chithalai Chathanar) ने *शिलप्पदिकारम* की उत्तर-कृति की रचना की जो आगे की कहानी बतलाती है। ये काव्य रचनाएँ पिछली कविताओं और तलवार चलाने वाले नायकों के बारे में दंकथाओं से भिन्न थीं। *शिलप्पदिकारम* की नायिका कन्नकी/कन्नगी है। कहानी के अनुसार रानी की पायल चोरी करने के लिए कन्नगी के पति कोवलन पर अनुचित आरोप और बाद में बिना किसी मुकदमे के राजा के आदेश पर उसका सिर कलम करने पर मदुरै शहर पर एक अभिशाप आया। एक पवित्र और वफ़ादार पत्नी के रूप में वह अंततः देवी पट्टिनी के रूप में पूजनीय हो गई।

शिलप्पदिकारम और *मणिमेकलई* को महाकाव्यों के रूप में माना और वर्गीकृत किया गया है। लेकिन उनके विषय महाकाव्य रूढ़ियों से भिन्न हैं। इनमें ग्रामीण इलाकों के साथ-साथ कावेरीपट्टिनम शहर की समृद्ध छवियाँ हैं। दोनों दैनिक जीवन की गतिविधियों या दैनिक हलचल को भी रेखांकित करते हैं। शहर का विशद् और सुरम्य वर्णन *मणिमेकलई* से मिलता है। शास्त्रीय तमिल कविता शैली का प्रदर्शन करते ये *काव्य* अलंकारों को समाहित करते हैं। इस तरह की लेखन-शैली की मिसाल पहले के संगम संकलनों में देखी जा सकती है। इसी तरह कन्नड़ काव्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण योगदान 9वीं शताब्दी सी ई का प्रसिद्ध *कविराजमार्ग* है।

तमिल कविता के विकास को एक धार्मिक आंदोलन (भक्ति) द्वारा आगे बढ़ाया गया था जिसे शिक्षकों/प्रचारकों, भजनशास्त्रियों और कवियों के समूहों और समुदायों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया था जिन्हें प्रायः तमिल भक्ति संप्रदायों के 'संत' के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने गीतों और

रचनाओं में तमिल का व्यापक रूप से उपयोग किया। अन्य दक्षिणी भाषाओं की तुलना में उन्होंने इसके विकास को आगे बढ़ाया। अपने देवता के प्रति पूर्ण *भक्ति* ने उनकी मुख्य धार्मिक अभिव्यक्ति को आकार दिया। उन्हें करिश्माई व्यक्तित्व के रूप में देखा और सम्मानित किया गया था जो *भक्ति* के सिद्धांतों का निर्देश देने और समर्पण कविताओं की रचना करने में सक्षम थे। उनके आसपास बड़ी संख्या में अनुयायी और भक्त एकत्र होते थे।

इन ग्रंथों में नगरीय परिदृश्य को काफ़ी हद तक रेखांकित किया गया है। *शिलप्पदिकारम* और *मणिमेकलई*, दोनों, शहर की केंद्रीयता और शहरी जीवन के विवरण पर ध्यान केंद्रित करते हैं। जैसा कि पहले बताया गया है, कावेरीपट्टिनम, जिसे पुहार/पुम्पुहार के नाम से भी जाना जाता है, का उल्लेख इसके बंदरगाह, व्यापारियों के आवासों और शहर के उस विशेष हिस्से के साथ, जहाँ ***यवन*** रहते थे, किया गया है। हमें ग्रामीण क्षेत्रों से नावों से पुहार पहुँचने वाले धान के संदर्भ मिलते हैं। यहाँ मदुरै, काँचीपुरम और उरैयूर जैसे अन्तर्देशीय बाज़ार-केंद्रों के लिए अन्य व्यापारिक वस्तुओं के बदले इसका आदान-प्रदान किया जाता था। पुहार को समृद्ध जीवन-शैली वाले जीवंत शहर के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ का वाणिज्यिक उत्पादन अन्य स्थानों से संसाधनों के व्यापार से जुड़ा थाः

क) पालघाट से फीरोज़ा,

ख) दक्षिण से मोती,

ग) अंतर्देशीय जंगलों से आबनूस, सागौन और चंदन जैसी लकड़ियाँ।

बोध प्रश्न-1

1) *काव्य* साहित्य से आप क्या समझते हैं? इस तरह के लेखन में ऐतिहासिक चेतना कैसे अंतर्निहित और परिलक्षित होती है?

.....

.....

.....

2) कालिदास और उनकी साहित्यिक कृतियों के बारे में आप क्या जानते हैं?

.....

.....

.....

4.3 *चरित* साहित्य

सह-अस्तित्व में *प्रशस्ति* पुरालेखों (जिनके बारे में आप अगली इकाई में विस्तार से अध्ययन करेंगे) के साथ-साथ हम राजाओं के संरक्षण में दरबारी कवियों या लेखकों द्वारा रचित *चरित* ग्रंथ (राजाओं की आत्मकथाएँ या स्तुतियाँ) भी पाते हैं। हालांकि उनके उद्देश्य को समझने के लिए कुछ विवेचन की आवश्यकता है। अक्सर ये ग्रंथ एक विशिष्ट मुद्दे के बारे में कहानी बताने पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो सत्ता हासिल करने से संबंधित होती है। इस तरह की कहानी को एक कथा में बुना जाता है और *चरित* पाठ में विस्तारित किया जाता हैः

क) बाणभट्ट द्वारा लिखित *हर्षचरित* में राजा हर्ष के सिंहासन पर बैठने का वर्णन है जिसके कारण सिंहासन हड़पने और ज्येष्ठाधिकार की पवित्रता को चुनौती दी गई (हर्ष उनके पिता राजा प्रभाकरवर्धन के छोटे पुत्र थे)।

ख) *विक्रमांकदेवचरित* (कल्याण के चालुक्य शासक विक्रमादित्य-VI [11वीं शताब्दी के अंत से लेकर 12वीं शताब्दी की शुरूआत तक] की जीवनी) बिल्हण द्वारा लिखा गया है जिसमें वह स्पष्ट करते हैं कि सम्राट को स्वयं भगवान शिव ने अपने बड़े भाई से उसकी राजगद्दी छीनने और उसकी जगह लेने का निर्देश और मार्गदर्शन क्यों दिया था।

ग) संध्याकर-नंदिन द्वारा रचित *रामचरित* में पाल राजा रामपाल के कैवर्तों के विद्रोह को कुचलने और अपनी शक्ति को सफलतापूर्वक पुनः स्थापित करने का विवरण मिलता है।

कुछ *चरितों* और अभिलेखों में राजा को विष्णु या शिव के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है या स्वयं भगवान द्वारा निर्देशित किए जाने का उल्लेख है। इसे सही मायनों में राजशाही को वैध बनाने का एक और तरीका माना जा सकता है। हम इस तरह के इतिवृत्तों में शिलालेखों के *प्रशस्ति* प्रारूप के विस्तारित संस्करण देखते हैं। लेकिन वे शासकों के अधिक विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करते हैं और राजाओं, राजवंशों और क्षेत्रों को अभिगम्य तरीके से प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। अतः उन्हें *वंशावलियों* के नाम से जाना जाने वाले ऐतिहासिक स्रोतों की एक अन्य श्रेणी से संबंधित कहा जा सकता है क्योंकि उनका ध्यान किसी राजा, राजवंश या क्षेत्र का इतिहास और ऐतिहासिक विवरण पर केंद्रित होता है। कल्हण द्वारा रचित कश्मीर का इतिहास – *राजतरंगिणी* – इस संबंध में असाधारण और अद्वितीय है क्योंकि उन्होंने विभिन्न स्रोतों से अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं पर विश्वसनीय साक्ष्य को देखा। इस प्रकार कोई इस बात से इंकार नहीं कर सकता है कि उनका इतिहास ऐतिहासिक लेखन का एक असाधारण उत्कृष्ट नमूना है क्योंकि इसमें वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं और उनके विवरणों के संदर्भ शामिल हैं जिन्हें ऐतिहासिक रूप से व्यावहारिक समझा जा सकता है। बिना किसी संदेह के यह एक असाधारण साहित्यिक कृति है (यही कारण है कि यह इस पाठ्यक्रम की एक अलग, अनुवर्ती **इकाई 6** की विषय-वस्तु है), यद्यपि कल्हण के इतिहास की असाधारण समझ के कारण यह कृति संस्कृत गंथ-लेखन की *वंशावली* शैली में निहित है। यह वास्तविक अर्थ में भारतीय उपमहाद्वीप में लिखा गया प्रथम 'इतिहास' भी है।

याद रखने योग्य एक और दिलचस्प बात यह है कि 12वीं-13वीं शताब्दी में गुजरात के कुछ व्यापारियों पर भी *चरित* लिखे गए थे। दक्षिण भारत से एक जीवन-संबंधी ग्रंथ मिलता है, हालांकि और भी बहुत से *चरित* लिखे गए होंगे लेकिन वे लुप्त हो गए हैं। 11वीं शताब्दी में अतुल नामक कवि द्वारा लिखित *मुशिकावंश* उत्तरी केरल में शासन करने वाले मुशिक/मुशिका वंश की उपलब्धियों को बताता है।

4.3.1 *हर्षचरित*

हर्षचरित (हर्ष का जीवन) सबसे महान् पुष्यभूति राजा हर्षवर्धन की जीवनी है जो एक जीवंत गद्य कथा के रूप में है। इसके रचयिता बाणभट्ट हैं। इसे एक शासक की पहली औपचारिक जीवनी माना जाता है। यह संस्कृत गद्य में जीवनी-लेखन का एक आद्यरूप था। इसने लेखन की एक शैली शुरू की जिसे *चरित* साहित्य के रूप में जाना जाता है जो साथ ही साथ *प्रशस्ति* भी थी। बाद के काल में शाही दरबारों में *चरित* (ऐतिहासिक जीवनियाँ) आम और प्रचलित बन गए।

प्रशस्ति शैली से जुड़े हुए भी चरित साहित्य कुछ प्रमुख घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमते हैं। एक शासक के शासनकाल की घटनाओं में जो महत्वपूर्ण माना जाता था उसके बारे में समकालीन धारणाएँ *चरित* ग्रंथों द्वारा प्रदान की जाती थीं। इस प्रकार उन्हें ऐतिहासिक लेखन के आधुनिक मानकों से आंके जाने के बजाय उस समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से देखा और समझा जाना चाहिए। संक्षेप में जैसा कि पहले कहा गया है, इस मामले में *चरित* लिखने का एक तात्कालिक कारण निश्चित रूप से छोटे भाई जो बड़े भाई का प्रतिद्वंद्वी था, द्वारा सिंहासन पर कब्ज़ा करने को वैद्य ठहराना था – एक ऐसा कार्य जिसने उत्तराधिकार के नियम को उलट दिया।

कश्मीर से विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए प्रतिभाशाली और निपुण लेखक बिल्हण ने संरक्षण, रोजगार, धन और प्रोत्साहन की तलाश की। उन्हें बाद के चालुक्यों के दरबार में एक पद की पेशकश की गई जहाँ उन्होंने *विक्रमांकदेवचरित* की रचना की। यह भी एक राजा का अपने बड़े भाई के सिंहासन पर कब्ज़ा करने का एक स्पष्टीकरण था। यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक वैधता प्राप्त करने का विचार दूर-दूर तक फैला हुआ था। इसका अनुमान छोटे राजवंशों पर लिखे वृत्तांतों (*वंशावली*) से लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मालाबार (वर्तमान उत्तरी केरल) के एक अल्पज्ञात राजवंश पर अतुल का 11वीं शताब्दी का *मुशकावंश काव्य* जिसका हमने पहले उल्लेख किया है। इस तरह की *वंशावलियों* की शैली, विषय और संरचना दिलचस्प रूप से समान थी, चाहे वे हिमालय के चंबा राज्य में लिखी गई हों या मालाबार (केरल) में। हमें जो याद रखना चाहिए वह यह है कि वे हमारे लिए राजसी, वंशवादी या क्षेत्रीय इतिहास के रूप में ये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

यहाँ तक कि इन ग्रंथों में मिथक भी कभी-कभी लगभग एक जैसे ही होते हैं। इतिवृत्त एक वंश या राजा की कतिपय शुरुआत का पता लगाता है, फिर यह संस्थापक पूर्वजों का उल्लेख करने की दिशा

में आगे बढ़ता है और फिर अधिक प्रामाणिक वंशावली इतिहास की ओर बढ़ता है। कहानी में महत्वपूर्ण/निर्णायक बिंदु एक राज्य की स्थापना को दर्शाते हैं जिसमें स्पष्ट परिवर्तन होते हैं, जैसे और अधिक क्षेत्र खेती के तहत लाए गए, एक राजधानी की स्थापना के साथ शाही मंदिर का निर्माण जो शाही शक्ति का प्रतीक था, उसमें राजा के इष्ट की मूर्ति की स्थापना, राज्य की राजधानी को विभिन्न मार्गों से अन्य स्थानों से जोड़ना, एक प्रशासनिक और नौकरशाही तंत्र, स्थायी सेना की स्थापना एवं उपस्थिति और शिलालेखों[6] को आधिकारिक संस्करणों और शाही निर्णयों और गतिविधियों की घोषणा के रूप में जारी करना। इसके बाद महत्वपूर्ण घटनाओं को इतिवृत्त में प्रलेखित किया जाता है।

4.3.2 *बुद्धचरित*

अश्वघोष[7] ने बुद्ध के जीवन पर *बुद्धचरित* नामक एक विस्तृत काव्य की रचना की। यह ग्रंथ प्रसिद्ध हुआ और कहा जाता है कि ऐतिहासिक जीवनियों के उदय में इसका बहुत महत्व है। रूद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख, जिसके बारे में आप अगली इकाई में कुछ विस्तार से पढ़ेंगे, *प्रशस्ति* का एक प्रारंभिक उदाहरण हैः एक शैली जो न केवल संस्कृत के उपयोग में बल्कि एक पारंपरिक क्षत्रिय सम्राट का वर्णन करने के मानदंडों के अनुपालन में भी शाही जीवनियों को परिभाषित करती थी। दरबारी संस्कृति के हिस्से के रूप में रचित बाद की शाही जीवनियों के लिए इस तरह के स्तुतिपूर्ण पुरालेख भी निर्णायक और महत्वपूर्ण थे।

एक आदर्श राजा के खाके के रूप में *प्रशस्ति* उन क्षेत्रों में राजशाही की अच्छी तरह से स्थापना को दर्शाती है जहाँ राजशाही इतनी परिचित नहीं थी। एक पाठ्य-प्रारूप के रूप में यह विकसित हो रही थी। *प्रशस्ति* अभिलेखों में संरक्षक-राजाओं की प्रशंसा करना स्पष्ट था। इस साहित्यिक योजना को बुद्धचरित में और भी अधिक देखा जा सकता है। शाही शक्ति को मान्य और प्रमाणित करने के साधन के रूप में *प्रशस्ति* मुखियाओं और राज्यपालों को भी आदर्श *क्षत्रिय* शासकों के रूप में चित्रित कर सकती है, चाहे उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो। राजाओं, राज्यपालों और प्रमुखों की देवताओं से तुलना शुरू हो गई थी लेकिन अत्यधिक रूप से नहीं। विडंबना यह है कि *देवपुत्र* की कुषाण उपाधि के अलावा जब शासक की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी तब भी देवत्व के साथ उसका जुड़ाव अधिक मुखर हो गया। मध्य एशियाई मूल के राजवंशों ने वैष्णव, बौद्ध या जैन जैसी स्थानीय पहचानों और विचारधाराओं को अपनाया और यह दिलचस्प है कि किसने क्या चुना (अगली इकाई में आप हेलियोडोरस स्तंभ अभिलेख के बारे में पढ़ेंगे जिसमें वासुदेव पंथ या भागवत धर्म में सबसे पहले दर्ज किए गए यूनानी धर्मान्तरित लोगों का उल्लेख है)।

अश्वघोष संस्कृत के प्रयोग में निपुण थे। यह न केवल, परिधीय क्षेत्रों को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों की भाषा के रूप में विकसित हुई बल्कि अब यह बौद्ध धर्म पर विचार करने के लिए एक पसंदीदा भाषा भी बन गई। हालाँकि स्थानीय भाषाओं या स्थानीय प्राकृत भाषाओं को पूरी तरह से नहीं छोड़ा गया था। लेकिन लोकप्रिय संस्कृति से उच्च संस्कृति, यानी अभिजात वर्ग और औपचारिक रूप से शिक्षितों की संस्कृति को रेखांकित करने और उसे लोकप्रिय संस्कृति से अलग करने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट हो गई।

4.3.3 *रामचरित*

हमने पहले इसके बारे में सरसरी तौर पर उल्लेख किया था। इस खंड में हम संध्याकर-नंदिन के इस *चरित* पाठ पर कुछ प्रकाश डालने जा रहे हैं जो बाद के पाल शासक रामपाल की जीवनी है। जीवनी-ग्रंथ में बताया गया है कि कैसे उन्होंने अपने सामंतों और अधीनस्थ शासक शक्तियों के साथ चतुराई और कूटनीतिक तरीके से कैवर्त विद्रोह, जिसका उद्देश्य पाल विस्तार को रोकना था, के खतरे का सामना करते हुए उसे दबा दिया। परंपरागत रूप से कैवर्त किसानों और मछुआरों की एक 'निम्न' जाति थी। परन्तु इस राजनीतिक घटना के बारे में फिर से बताना उन छोटे-मोटे ज़मींदारों के विद्रोह को रेखांकित करता प्रतीत होता है जिन्होंने शायद कैवर्त किसानों को संगठित किया हो। यह रामपाल द्वारा सामंतों और वन-प्रमुखों को उनके समर्थन और गठबंधन को सुनिश्चित करने के लिए भव्य उपहार

[6] आप एक ऐतिहासिक स्रोत के रूप में अभिलेखों के बारे में अगली इकाई में अध्ययन करेंगे।

[7] ऐसा माना जाता है कि अश्वघोष जैसे कुछ महान् रचनात्मक लेखकों को कुषाणों का संरक्षण प्राप्त था। *बुद्धचरित* के अतिरिक्त उन्होंने *सौन्दरानंद* की रचना की जो संस्कृत काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

देने की प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से वर्णन करता है। इस ऐतिहासिक घटना पर प्रकाश डालने से राजा और उसके अधीनस्थों के बीच संबंधों और उनकी सूक्ष्मताओं के बारे में हमें जानकारी का खज़ाना मिलता है।

4.4 अलंकृत साहित्यिक कृतियों के रूप में *काव्य* और *चरित*

अब तक आप जान गए होंगे कि छठी और सातवीं शताब्दी भारतीय साहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण चरण था। संस्कृत का प्रयोग शासक वर्ग या उनके दरबारी लेखकों द्वारा दूसरी शताब्दी सी ई से किया जाने लगा था। शाही वंश के लोगों के वैभव, धूमधाम/सजधज और महात्वाकांक्षा को उजागर करने के लिए और उसी के साथ तालमेल बिठाते हुए संस्कृत कविता और गद्य की शैली अलंकृत हो गई। शायद कालिदास के लेखन से बहुत अधिक प्रभावित होने से संस्कृत कविता और गद्य में अब रूपकों, क्रिया विशेषणों, अलंकारों और कल्पना के अन्य रचनात्मक रूपों का उपयोग करना सामान्य हो गया। लेखन इनसे परिपूर्ण हो गया। *हर्षचरित* इसका एक विशिष्ट उदाहरण है। बाणभट्ट द्वारा अलंकृत शैली में यह एक उत्कृष्ट रचना, जो बाद के लेखकों और अनुकरणकर्ताओं के लिए एक मानक बन गई, उनके संरक्षक हर्ष के प्रारंभिक वर्षों की एक *प्रशस्ति* है।

शर्मा (2018 [2005]: 293) हमें बतलाते हैं:

> कविता में नई अलंकृत, शब्द बहुल, उच्च-प्रवाह शैली की आवश्यकता को पूरा करने के लिए कई छंदों का आविष्कार किया गया और उन्हें विस्तृत किया गया ... इस साहित्य ने बौद्धिक जीवन में सत्तावादी प्रवृत्ति को बहुत मजबूत किया तथा राज्य और *वर्ण*-आधारित पितृसत्तात्मक समाज को संरक्षित करने और इसे नई स्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।

4.5 एक ऐतिहासिक परिवर्तन के संकेतक के रूप में *काव्यों* और *चरितों* की भाषा में बदलाव

हमने पहले राजशेखर की *कर्पूरमंजरी* का संदर्भ दिया था जिसे प्राकृत में लिखा गया है। अगली इकाई में आप अभिलेखों की भाषा में बदलाव को एक ऐतिहासिक बदलाव के रूप में पढ़ेंगे। यहाँ, जीवनी और *काव्य* रचनाओं की भाषा में परिवर्तन को स्पष्ट करना प्रासंगिक है।

अब आप जानते हैं कि सामान्य युग की प्रारंभिक शताब्दियों से ही संस्कृत बौद्धिक और अभिजात वर्ग के संभाषण की भाषा बन गई। इस काल के संस्कृत नाटकों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उच्च और निम्न वर्ग के लोगों को एक ही भाषा बोलने के रूप में नहीं दिखाया जाता था। इन नाटकों में ऊँची हैसियत वाले संस्कृत बोलते हैं जबकि निम्न या अस्पष्ट सामाजिक स्थिति वाले लोग, जैसे शूद्र और सभी महिलाएँ, प्राकृत बोलते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्थिति और लिंग निर्धारित किया गया और उसे भाषा के साथ जोड़ा गया।

हालाँकि अपने अधिक लोकप्रिय रूपों में संस्कृत में स्थानीय प्राकृत के तत्व शामिल थे। प्राकृत में लेखन की पुरानी परम्परा में लिखी गई प्रमुख पाठ्य रचनाओं में शमिल हैं:

क) हाल द्वारा रचित *गाथासप्तशती*: ये ज़्यादातर प्रेम और उससे मिलने वाले आनंद के विषय पर छोटी कविताएँ हैं जो अविवाहित या विवाहित महिलाओं द्वारा सरल एवं स्पष्टतवादी एकालापों के रूप में हैं। उनमें से कुछ स्वभाव और स्वर में अत्यधिक भावुक हैं, कुछ कामुक हैं और अन्य आनंददायक रूप से हास्यपूर्ण हैं।

ख) प्रवरसेन का *सेतुबंध*: इसे *रावणवाहो* भी कहा जाता है। यह भगवान राम द्वारा लंका की घेराबंदी का वर्णन करता है।

ग) वाक्पति का *गौड़वाहो /गौडवहो /गउडवहो*: यह कन्नौज के राजा यशोवर्मन की जीवनी है।

घ) राजशेखर[8] द्वारा *कर्पूरमंजरी*: कहा जाता है कि यह एक काल्पनिक कथा है जो उन्होंने अपनी पत्नी अवंतिसुंदरी को खुश करने के लिए लिखी थी जो परिष्कृत रुचि रखने वाली एक प्रतिभाशाली महिला थी।

[8] राजशेखर वही लेखक हैं जिन्होंने 9वीं-10वीं शताब्दी सी ई में *काव्यमीमांसा* की रचना की थी। यह ग्रंथ एक अच्छी कविता की विशेषताओं का चित्रण और व्याख्या करता है और इस क्षमता में यह अनिवार्य रूप से कवियों के लिए एक उपयोगी मार्गदर्शक है।

रचनात्मक साहित्य के लेखन में स्थानीय प्राकृतों, जैसे सौरसेनी प्राकृत जिसमें *गाथासप्तशती* की रचना की गई थी, का प्रयोग कम हो रहा था। किन्तु फिर भी उन्होंने अपभ्रंश (शाब्दिक अर्थ 'गिरना') के उदय को बढ़ावा दिया, शुरूआत में पश्चिमी भारत में जहाँ इसकी उत्पत्ति हुई, फिर अन्य क्षेत्रों (ज़्यादातर परिधीय क्षेत्र) में और अंततः इसने कुछ क्षेत्रीय भाषाओं के उदय में सहायता की। जैसे-जैसे अपभ्रंश के वक्ता अधिक केंद्रीय स्थानों की ओर बढ़ने लगे वैसे-वैसे यह इन स्थानों पर भी प्रचारित होने लगी। क्षेत्रीय भाषाओं का निरंतर प्रयोग तब दिखाई देता है और स्पष्ट होता है जब शिलालेख संस्कृत के साथ इनका भी उपयोग करते हैं या जब संस्कृत में इन क्षेत्रीय भाषाओं के पहचाने जाने वाले योग्य तत्व शामिल होते हैं। यह कुछ हद तक द्विभाषावाद को इंगित करता है। हम अनुमान लगा सकते हैं कि प्रवासी *ब्राह्मणों* के लिए द्विभाषी होना अधिक उपयोगी तथा प्रभावी होता, विशेषकर प्रायद्वीपीय क्षेत्र में। यह भी हो सकता है कि दरबारी साहित्य की मंडलियाँ अंतर-क्षेत्रीय होने के कारण मुख्य रूप से संस्कृत का उपयोग कर रही थीं लेकिन स्थानीय प्राकृत के अवयवों और अंशों के बिना नहीं। स्थान के अनुसार भाषाओं की बहुलता को पहचानने की प्रक्रिया से संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं के बीच और भी विविधीकरण को स्वीकार किया गया और आंशिक रूप से प्रमुख संस्कृत भाषा के हिस्से के रूप में माना गया होगा। निस्संदेह, संस्कृत प्रमुख भाषा थी लेकिन इसने शाही दरबार और अन्य स्थानों पर स्थानीय भाषा शैली और वाक्पटुता को वर्जित नहीं किया। क्षेत्रीय भाषाओं का उदय रातोंरात नहीं हुआ। ये कई सामाजिक समूहों और समुदायों द्वारा उपयोग की जाने वाली मूल भाषाएँ थीं। जब इन भाषाओं को बोलने वालों की स्थिति में वृद्धि हुई तो उनकी भाषा की स्थिति भी उन्नत हुई। साहित्य और कला में कई रचनात्मक अभिव्यक्तियों से धीर-धीरे पहचान बनाई गई। नई भाषाएँ अक्सर नए विचारों को व्यक्त करती थीं।

प्राकृत संस्कृत की तुलना में लोकप्रिय भाषण से अधिक निकटता से जुड़ी होने के कारण दरबारी वर्ग के बाहर भी प्रोत्साहित और प्रचारित की गई। विमलसूरी ने *पौमचरियम*[9] की रचना की। यह भगवान राम की कहानी का जैन संस्करण है। यह ग्रंथ न केवल वाल्मीकि के विचारों से भिन्न विचारों को प्रस्तुत करने के लिए उल्लेखनीय है बल्कि यह *रामायण* महाकाव्य के लोकप्रिय साहित्य के रूप में उसके प्रयोजन को दोहराने और बढ़ाने के लिए भी स्मरणीय है जो लोगों को आकर्षित करता है। जैन साहित्य का एक दिलचस्प पहलू जैन दृष्टिकोण से भगवान राम की कहानी के प्रसंगों को बताना था (विस्तृत अध्ययन के लिए **इकाई 3** देखें)। जैन विद्वानों के ग्रंथ अक्सर वाल्मीकि की *रामायण* के स्थापित संस्करणों से कम या अधिक हद तक भिन्न होते हैं।

यह दिलचस्प है कि पहली सहस्राब्दी सी ई और दूसरी सहस्राब्दी सी ई की प्रारंभिक शताब्दियों के दौरान विधर्मी संप्रदाय बौद्ध धर्म और जैन धर्म के लेखकों ने भी संस्कृत में लिखना शुरू कर दिया था जिनमें से कुछ *चरित* शैली से संबंधित थे। संस्कृत को बड़े पैमाने पर इसे पढ़ाया जाने लगा और बौद्ध और जैन दोनों शिक्षा केंद्रों में भी इसे पढ़ाया और प्रयोग किया जाता था। जैन विद्वान भद्रबाहु द्वितीय ने *चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ* और टीकाएँ लिखीं जो जैनियों के पवित्र ग्रंथों पर भाष्य थे और हम जानते हैं कि संस्कृत रचनाएँ *आदिपुराण* और *यशतिलक* जैन धार्मिक साहित्यिक परम्परा का हिस्सा थीं। जैन अक्सर धार्मिक ग्रंथों के अलावा शासकों के आख्यानों, इतिहासों और जीवनियों तथा शाही दरबारों के वृत्तांतों की रचना करते थे। विद्वानों और लेखकों ने विभिन्न जैन संप्रदायों की गतिविधियों का अध्ययन किया और उनकी शिक्षाओं ने उनकी रचनाओं को कुछ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया जैसा कि पहले बौद्ध परम्परा में किया गया था। इस प्रकार जैन परम्परा ने ऐतिहासिक लेखन के संबंध में बौद्ध परम्परा का अनुकरण किया तथा जैन परम्परा इस मामले में बौद्ध परम्परा के समानांतर है। 12वीं शताब्दी में हेमचंद्र और 14वीं शताब्दी में मेरूतुंग जैसे बाद के रचयिताओं ने लेखन की इस शैली की परम्परा और विरासत को आगे बढ़ाया। इतिहास के साथ आलोचनात्मक व्याख्या और भाष्य को मिलाकर परिष्कृत विद्वता का एक अच्छा उदाहरण *द्वश्रय-काव्य* है। *परिशिष्टपर्व* और *प्रबंधचिन्तामणि* जैसे जैन ग्रंथ *प्रबंध* शैली (कथात्मक/अर्द्ध-ऐतिहासिक उपाख्यानात्मक वृत्तांत) में लिखे गए थे। जीवनियों[10] और आत्मकथाओं में महावीर के जीवन, उपदेशों और गतिविधियों पर *महावीर चरित* जैसे निबंध शामिल हैं।

[9] यह ग्रंथ तीसरी शताब्दी सी ई के आसपास लिखा गया। इसमें *रामायण* के रावण का उल्लेख है और दिलचस्प बात यह है कि उसे चेदियों के मेघवाहन वंश से संबंधित बताया गया है जिसका प्रसिद्ध शासक खारवेल था।

[10] इनके बारे में आप इकाई 9 में अध्ययन करेंगे।

1) *चरित* लेखन का वर्णन एक *चरित* रचना के संदर्भ में कीजिए। आपकी राय में इन पाठ्य रचनाओं को ऐतिहासिक ग्रंथ कैसे माना जा सकता है?

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

क) ..... ने ..... से संपत्ति और रोज़गार की तलाश में विभिन्न स्थानों की यात्रा की जब तक कि उन्हें ..... के दरबार में पद नहीं मिला जहाँ उन्होंने ..... लिखा।

ख) *रामचरित* में पाल राजा रामपाल द्वारा ..... के विद्रोह को कुचलने का वर्णन मिलता है। इसके रचयिता ..... हैं।

ग) ..... एक शासक की पहली औपचारिक जीवनी थी। यह ..... द्वारा लिखा गई थी।

4.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह सीख पाए होंगे कि प्राचीन भारतीय इतिहास में लेखन की प्रत्येक श्रेणी का अतीत का दस्तावेज़ीकरण और वर्णन करने का अपना तरीका है। हमारे औपनिवेशिक शासकों ने प्राचीन भारतीयों पर इतिहास की अनुपस्थिति या अभाव का आरोप लगाया। उन्होंने भारतीय इतिहास पर खुद ही शोध करने और लिखने का विशाल कार्य यहाँ की भूमि और यहाँ के लोगों के बारे में जानने और शासन करने की इच्छा के साथ किया और दूसरा, उन्होंने ऐसा इसलिए भी किया ताकि वे उनके विचार, 'श्वेत नस्ल का बोझ' (अर्थात उपनिवेशित देशों में सभ्यता लाना 'श्वेत नस्ल' का कर्तव्य है) और उनके दावे, कि भारत एक आदिम/अनगढ़ भूमि थी, को सही ठहरा सकें। हाँ, प्राचीन भारतीयों ने उस तरह से इतिहास नहीं लिखा जैसा आज लिखा जाता है और यह सच है कि कल्हण, जिन्होंने 12वीं शताब्दी की शुरुआत में *राजतंरगिणी* को राजाओं और राजवंशों के ऐतिहासिक आख्यान के रूप में वर्णित किया था, के समय तक भारत में हेरोडोटस या थ्यूसीदाइदीज/थूसाईडाईड्स जैसे इतिहासकार नहीं थे।

लेकिन हमने पर्याप्त रूप से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि *काव्यों* और *चरितों* के ऐतिहासिक मूल्य, महत्व, दायरे, उपयोगिता और विश्वसनीयता को नज़रअंदाज़ या दरकिनार नहीं किया जा सकता है। वे काफ़ी ऐतिहासिक महत्व के हैं। लेकिन इन स्रोतों में इतिहास 'बना बनाया' उपलब्ध नहीं है बल्कि इसे चुनना/बीनना होता है। इस प्रकार इन्हें 'ग़ैर-ऐतिहासिक' ग्रंथों के रूप में खारिज नहीं किया जा सकता है, जैसा कि हमने इस इकाई में ठोस रूप से देखा है। शर्मा (2018 [2005]: 23) ने बाणभट्ट, कालिदास, भास, शूद्रक, आदि के लेखन के बारे में सटीक अवलोकन किया है और अनुमान लगाया है:

> साहित्यिक मूल्य के अलावा वे उस समय की परिस्थितियों को भी प्रतिबिंबित करते हैं जिससे लेखक संबंधित थे .... महान् रचनात्मक रचनाएँ होने के अलावा वे हमें सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलकियाँ प्रदान करती हैं ...।

हमने देखा कि *चरित* अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक विषयों पर आधारित थे क्योंकि उनका कथानक एक वास्तविक (काल्पनिक नहीं) ऐतिहासिक व्यक्ति या व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द घूमता था। विशेष रूप से *हर्षचरित* के बारे में शर्मा (2018 [2005]: 26) बताते हैं:

> यद्यपि यह रचना अतिश्योक्तिपूर्ण[11] है किन्तु हर्ष के दरबारी जीवन और उसके युग के सामाजिक और धार्मिक जीवन का यह उत्कृष्ट विवरण देती है।

4.7 शब्दावली

धर्मशास्त्र नैतिक और सामाजिक मानदंडों और आचार-संहिता पर प्राचीन भारतीय संग्रह जो एक हिंदू द्वारा उनके पालन और अनुसरण के लिए लिखे गए।

[11] इसमें कोई संदेह नहीं है कि *चरित* ग्रंथों का उद्देश्य संरक्षक की सराहना और गुणगान करना था।

मानव धर्मशास्त्र (सामान्य बोलचाल में यह *मनुस्मृति* के नाम से जाना जाता है) उनमें से एक है। पी. वी. काणे ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्राज़* (आठ भागों में पाँच खंड) में इन पर व्यापक शोध किया है

हेरोडोटस इन्हें इतिहास का जनक कहा जाता है। ये प्राचीन काल में एक यूनानी इतिहासकार थे। उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप की एक चित्ताकर्षक और काल्पनिक छवि को चित्रित किया था जिसके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने सिकंदर को यहाँ आक्रमण करने के लिए लुभाया था

यवन शर्मा (2018 [2005]: 200) हमें बताते हैं कि यह शब्द शुरू में यूनानियों को संबोधित करने के लिए था किन्तु समय के साथ इसका प्रयोग विदेशी मूल के सभी लोगों को दर्शाने के लिए किया जाने लगा

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 4.2

2) देखें उप-भाग 4.2.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 4.3

2) क) बिल्हण, कश्मीर, कल्याण के चालुक्यों, *विक्रमांकदेवचरित*; ख) कैवर्तों, संध्याकर नंदिन; ग) *हर्षचरित*, बाणभट्ट

4.9 संदर्भ ग्रंथ

पाठक, वी. एस., (1966) *एंशिएंट हिस्टौरियंस ऑफ़ इंडियाः ए स्टडी इन हिस्टौरिकल बायोग्राफ़ीज़* (बम्बईः एशिया पब्लिशिंग हाउस).

शर्मा, आर. एस., (2018 [2005]) *इंडियाज़ एंशिएंट पास्ट* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

थापर, रोमिला, (2002) *अर्ली इंडियाः फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए डी 1300* (नई दिल्लीः पेंगुइन)

थापर, रोमिला, (2013) 'हिस्टौरिकल बायोग्राफीज़ः द *हर्षचरित* एंड द *रामचरित*' एवं 'बायोग्राफ़ीज़ एज़ हिस्टरीज', *द पास्ट बिफोर असः हिस्टौरिकल ट्रडिशन्स ऑफ़ अर्ली नार्थ इंडिया* (नई दिल्लीः परमानेंट ब्लैक)

4.10 शैक्षणिक वीडियो

इन्नोवेशंस एंड टर्निंग पॉइंट्सः टुवर्डस ए हिस्ट्री ऑफ़ काव्य लिटरेचर (यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो)

https://www.youtube.com/watch?v=ZmNWWihE0JQ

ऐड्रयू ओलेट (हार्वर्ड यूनिवर्सिटी) – संस्कृत ऐज़ ए मेटालैंग्वज फ़ॉर लिटरेचर इन दंडिन

https://www.youtube.com/watch?v=TVgvrr9QGdA

इकाई 5 अभिलेख एवं *प्रशस्तियाँ* *

इकाई की रुपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 अभिलेख क्या है?

5.3 अभिलेखों के प्रकार

5.4 अशोक के अभिलेख

5.5 प्राचीन भारत के कुछ अन्य महत्वपूर्ण अभिलेख

5.5.1 *प्रयाग-प्रशस्ति*

5.5.2 जूनागढ़ अभिलेख

5.5.3 हाथीगुम्फा अभिलेख

5.5.4 हेलियोडोरस का अभिलेख

5.6 ऐतिहासिक परिवर्तन के चिह्न के रूप में अभिलेखों की भाषा में परिवर्तन

5.7 सारांश

5.8 शब्दावली

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.10 संदर्भ ग्रंथ

5.11 शैक्षणिक वीडियो

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित के बारे में सीख एवं समझ सकेंगेः

- ऐतिहासिक कथनों, उद्घोषणाओं, लेखों के तौर पर प्राचीन भारतीय अभिलेखों का महत्व,
- किस प्रकार से ऐतिहासिक जागरूकता, चेतना एवं ज्ञान इस प्रकार के स्रोतों में अंतर्निहित हैं,
- अभिलेखों के प्रकार जो एक इतिहासकार को अतीत के पुनर्निर्माण के लिए सक्षम बनाते हैं तथा सहायता करते हैं, और
- प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के लिए कुछ अत्यधिक उपयोगिता वाले अभिलेख।

5.1 प्रस्तावना

अभिलेख इतिहास के पुनर्निर्माण, विशेषकर प्रारंभिक भारत के राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण, के लिए सर्वाधिक मूल्यवान स्रोत रहे हैं और साबित हुए हैं। परंतु हम इस इकाई में यह भी देखेंगे कि वे ऐतिहासिक महत्व के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश में झांकने में हमारी मदद करते हैं। आर. सी. मजूमदार ने सही व्याख्या की है,

> ऐतिहासिक साक्ष्य के तौर पर ये साहित्यिक स्रोतों से अधिक विश्सनीय होते हैं क्योंकि अधिकतर साहित्यिक स्रोतों का काल अनिश्चित है और हज़ारों वर्षों में प्रतियों के रूप में उन्हें सुरक्षित रखने की प्रक्रिया के दौरान उनमें विशाल बदलाव अवश्य आए होंगे।

5.2 अभिलेख क्या है?

आसान शब्दों में कहें तो किसी ठोस सतह, उदाहरण के लिए, मुहरें, ताम्र-पत्र, मंदिर की दीवारें, धातुएँ, लकड़ी के पट्टों, कब्र के स्मारक-पत्थरों, खंभों, चट्टान की सतहों, ईंटों, मूर्तियों, आदि, पर कोई भी

* डॉ. अभिषेक आनंद, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,, नई दिल्ली

लेखन अभिलेख कहलाता है। यह एक पाठ्य लेख होता है जो कि साहित्यिक शैली के साक्ष्य के काफ़ी करीब है और साथ ही साथ एक पुरातात्विक कलाकृति भी है जो उस समय की भौतिक संस्कृति का एक हिस्सा है। अभिलेख पूरे ऐतिहासिक समय में विश्वव्यापी रहे हैं और यह भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में भी सत्य है। अभिलेख सबसे महत्वपूर्ण, प्रमाणिक और विश्वसनीय स्रोतों में से एक हैं। रोमिला थापर (2013: 319) के अनुसारः

> प्रारंभिक अभिलेख ऐतिहासिक जानकारी के अंश होते हैं और यह ही वह तरीका है जिसमें उनका उपयोग किया गया है। परंतु अभिलेख विभिन्न तरीकों से व्यक्त की गई ऐतिहासिक चेतना के प्रति कुछ संवेदनशीलता भी धारण करते हैं।

उदाहरण के लिए, भूमि-अनुदान में संबंधित अभिलेखों में निहित जानकारी के विशाल भंडार का पिछले कुछ दशकों के दौरान बड़े पैमाने पर उपयोग किया गया है जिससे विद्वानों के बीच चर्चा हुई है कि क्या उत्तर-गुप्तकाल में सामंतवाद का आगमन हुआ था और क्या यह सामंती व्यवस्था की एक विशेषता थी।

अभिलेखों के अध्ययन को पुरालेखशास्त्र (epigraphy) के नाम से जाना जाता है और अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि और उसकी बनावट का अध्ययन पुरालिपिशास्त्र (palaeography) कहलाता है।

अभिलेख साहित्यिक पाठ से भिन्न होता है जैसा कि प्रस्तावना में संक्षेप में बताया गया है। एक बार उत्कीर्ण होने के बाद इसमें साहित्यिक पाठ स्रोतों की तरह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता और उनकी अपेक्षाकृत यह सरल, सीधी, ठोस और अधिक जानकारी प्रदान करता है, यद्यपि हम देखेंगे कि ऐसे स्थलों के उदाहरण भी मौजूद हैं जहाँ पहले से उत्कीर्ण अभिलेखों के स्थल या सतह पर ही परवर्ती अभिलेखों को उत्कीर्ण किया गया है। लेकिन अभिलेख में बदलाव नहीं होते हैं और हम उसे वर्तमान में उस रूप में देखते हैं – लगभग एक तैयार रूप में – जैसा कि उसे अतीत में उत्कीर्ण किया गया था। नर्म सामग्रियों, जैसे भोजपत्र/भुर्जपत्र (birch bark), ताड़पत्र (palm leaf), आदि पर लिखे गए ग्रंथों की अक्सर नकल उतारने की आवश्यकता होती थी क्योंकि पुरानी पांडुलिपियाँ समय के साथ भंगुर और नष्ट हो जाती हैं। नकल करने, व्यवस्थित रूप से मिलाने और पुनर्रचना के दौरान उनमें अंतर्वेशन (interpolations) हुए हैं और यहाँ तक कि परिवर्तन एवं जुड़ाव भी हुए हैं जबकि ऐसा अभिलेख के मामले में नहीं है। इस प्रकार, समकालीन लेखों के तौर पर उनका मूल्य संदेह से परे है। यद्यपि इनके सटीक काल का निर्धारण सदैव नहीं होता परंतु इनकी लिपि के अक्षरों की बनावट हमें इनका मोटे तौर पर काल-निर्धारण करने में सक्षम बनाती है। अब यह ऐतिहासिक रूप से जाना जाता है कि अशोक के बाद ब्राह्मी लिपि को अपनाया गया था और उसे परवर्ती शासकों द्वारा उपयोग में लाया गया था। इसके प्रत्येक अक्षरों में आने वाली सदियों में संशोधन हुए और इस प्रक्रिया के माध्यम से बंगाली, गुजराती, कन्नड़, तमिल, मलयालम, तेलुगु, आदि क्षेत्रीय/स्थानीय भाषाओं की भारतीय लिपियों का विकास हुआ। एक ऐतिहासिक घटना के रूप में एक-एक अक्षरों के संशोधन ने इन लिपियों में किसी भी विशिष्ट अभिलेख का मोटे तौर पर काल-निर्धारण करना लगभग संभव बना दिया है।

हम इस इकाई के बाद के एक भाग में अभिलेखों की भाषा में परिवर्तन की चर्चा करेंगे।

अभिलेख ***पुराणों*** एवं महाकाव्यों जैसे ग्रंथों में व्याप्त संदिग्धता से भी मुक्त हैं। इनमें हमें सटीक, निश्चित एवं स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है जैसे लेखक, उत्कीर्णक या जिसे अभिलेख के लिए नियुक्त, स्वीकृत, संरक्षण प्रदान करने वाले और प्रायोजित करने वाले व्यक्ति के द्वारा ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण माना गया है। कभी-कभी यह एक साहित्यिक स्रोत में दी गई जानकारी की पुष्टि एवं समर्थन कर सकता है। परंतु ऐसा न होने की स्थिति में कुछ अवसरों पर इसे जानकारी के समानांतर स्रोत के रूप में लिया जा सकता है जो कि ऐतिहासिक रूप से अधिक वैध एवं विश्वसनीय हो। साहित्यिक स्रोतों से अलग एक बिंदु यह भी है कि अभिलेख महाकाव्यों और *पुराणों*, जो एक दैवीय रूप से लिखित होने का दावा करते हैं, के विपरीत अपनी रचना के स्रोत के बारे में अधिक स्पष्ट होते हैं। एक और अंतर यह भी है कि अभिलेखों की पहुँच अधिक रही होगी क्योंकि उन्हें इन अभिलेखों के स्थलों पर साहित्यिक ग्रंथों तक पहुँच रखने वाले लोगों की तुलना में ज़्यादा लोगों द्वारा पढ़ा या सुना जा सकता था। सबसे पुराने अभिलेख हड़प्पा लिपि में हैं। आज भी न पढ़े जा सकने के कारण उन्हें हड़प्पा सभ्यता के अधिकांश स्थलों पर प्रचुर मात्रा में पाए गए मुहरों पर उकेरे गए 'संकेत चिह्न' कहा जा सकता है।



बाएँः हड़प्पा सभ्यता के स्थल मोहनजोदड़ो (सिंध प्रांत, पाकिस्तान) से प्राप्त पशुओं के चित्रों और अपठित चिह्नों के साथ पशुपति (आद्य-शिव) मुहर, लगभग 2600-1900 बी सी ई

स्रोतः http://www.columbia.edu/itc/mealac/ pritchett/00routesdata/bce_500back/indusvalley/ protoshiva/ protoshiva.jpg

चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/ wiki/File:Shiva_ Pashupati.jpg

दाएँः धोलावीरा (कच्छ जिला, गुजरात) के उत्तरी द्वार पर हडप्पाई लिपि में अभिलेख का रेखाचित्र इसे धोलावीरा सूचना-पट्ट कहते हैं

श्रेयः सियाजकाक

स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://en.wikipedia.org/wiki/File: The_% 27 Ten_ Indus_ Scripts %27_discovered_near_the_northern_gateway_of_the_Dholavira_citadel.jpg

5.3 अभिलेखों के प्रकार

अभिलेखों के अनेक प्रकार होते हैंः

1) शासनकर्ता राजाओं के राजकीय आदेश (*राज-शासन/धर्म-शासन/अभय-शासन*)

ये अभिलेख सत्ता और शक्ति का अधिकार रखने वालों के विचारों, मतों और घोषणाओं को व्यक्त, प्रतिबिंबित एवं सूचित करते हैं। ये आम तौर पर सार्वजनिक स्थलों पर स्थित होते थे, राज्य की प्रजा को संबोधित करते थे और उनसे संबद्ध होते थे। इनका प्रसार/फैलाव शासनारूढ़ राजा के शासन-क्षेत्र के संकेत के रूप में माना जाता है जैसा कि हम अशोक के अभिलेखों के संबंध में देखेंगे। इसी तरह, सौराष्ट्र पर रूद्रदामन का प्रभुत्व जूनागढ़ अभिलेख में स्पष्ट है।

एक अभिलिखित आदेश जनहित में जारी किए गए कानून की घोषणा भी हो सकता है। अभिलेखों की रचना आमतौर पर उन उत्कीर्णकों द्वारा की जाती थी जिन्हें लेखकों द्वारा निर्देशित किया जाता था जो सीधे शासक द्वारा उसकी राजकीय घोषणा के बारे में बोलकर लिखाया जाता था। उनके अभीष्ट श्रोताओं में राजदरबार स्वाभाविक रूप से शामिल होता होगा। ये मुख्य रूप से शासन से संबंधित उद्घोषणाएँ हैं लेकिन हमें इसी प्रक्रिया में इनके समकालीन समय के अन्य तथ्यों एवं पहलुओं की भी जानकारी मिलती है। ऐसे स्थलों का चयन किया जाता था जहाँ लोगों की बड़ी सभाएँ हो सकें। ये अभिलेख ऐसे ही स्थानों पर चट्टानों पर उत्कीर्ण किए जाते थे परंतु हम इन्हें अखंड स्तंभों (monolithic pillars) पर भी पाते हैं और अशोक के स्तंभों में उनकी आज्ञाओं के साथ उत्कृष्ट रूप में गढ़े गए शीर्ष (capital) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हम अशोक के अभिलेखों का थोड़े विस्तार से अध्ययन अगले भाग में करेंगे। इन अभिलेखों की ऐतिहासिकता के संबंध में थापर (2013: 325) कहती हैंः

> इन अभिलेखों के बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि सम्राट अशोक भारतीय जीवन और इतिहास के कई पहलुओं को छूते हैं जो उस वक्त विद्यमान थे और बाद की शताब्दियों में भी जारी रहे। अप्रत्यक्ष रूप से कहें तो ऐसा बहुत कुछ था जिसकी उत्पत्ति इन विचारों में हुई थी। एक से अधिक

अर्थों में अभिलेखों को प्रारंभिक भारत की ऐतिहासिक परंपराओं के परिचय के रूप में माना जा सकता है। इन अभिलेखों में वे विचार और कार्य संदर्भित हैं जो अतीत में प्रचलित थे और अब उनमें किस प्रकार का परिवर्तन आया और क्यों। लुंबिनी में बुद्ध के जन्म-स्थान की पहचान करने वाला अभिलेख एक अति महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरालेख है। अशोक के अभिलेखों में प्रमुख/वृहद् शिलालेख (Major Rock Edicts) एवं स्तंभ अभिलेख सबसे विस्तृत रूप से पाए गए हैं जो कि वास्तव में एक *चक्कवत्ती* के कथन हैं। वह एक सार्वभौमिक सम्राट है जो सामाजिक नैतिकता या *धम्म* के नियमों पर प्रवचन देता है जिनका वह अपनी प्रजा से पालन कराना चाहता है ... अभिलेख आंशिक रूप से आत्म-कथात्मक हैं जो उसके विचारों और गतिविधियों को व्यक्त करते हैं और समकालीन मामलों के आलोक में अतीत में किए गए राजकीय कार्यों के बारे में जागरूकता और उसके कथन की भविष्य में प्रासंगिकता को दर्शाते हैं। यह उसके अभिलेखों की ऐतिहासिक चेतना को एक आस्वादन प्रदान करता है।

2) *प्रशस्तियाँ/विजय-शासन/प्रतिष्ठा-शासन/*कभी-कभी *पूर्व* के नाम से संबोधित

इस प्रकार के अभिलेख राजाओं के विवरण और स्तुति या महिमामंडन से संबंधित हैं। ये अभिलेख उनके संरक्षकों और संरक्षकों की उपलब्धियों की सराहना करते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा हमें थापर (2013: 341) जानकारी देती हैं:

> *प्रशस्तियाँ* वंश की उत्पत्ति का उल्लेख करती हैं जिसमें देवताओं और प्राचीन ऋषियों के साथ-साथ छोटी लघु वंशावलियाँ शामिल होती हैं जिन्हें संभवतः राज दरबारों में रखे गए आलेखों से निर्मित किया गया है .... राज्योंऔर छोटे मुखिया रूपी राजाओं द्वारा शासित क्षेत्रों पर विजय को सूचीबद्ध किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे मुखिया रूपी राजाओं के राज्य राजनीतिक रूप से उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे जितना कि उन्हें आधुनिक इतिहासकारों द्वारा स्वीकार किया जाता है।

क्षहरातों, शक-क्षत्रपों और कुषाणों के अभिलेख दो या तीन पीढ़ियों से भारतीय नामों को अपनाते हैं। ये अभिलेख उन्हें सामाजिक एवं धार्मिक कल्याण में संलग्न दर्शाते हैं। यदि इलाहाबाद स्तंभ लेख की खोज नहीं की गई होती तो शक्तिशाली गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त अज्ञात और भारतीय इतिहास के पृष्ठों से गायब रहता।

अधिकांश गुप्त अभिलेखों में कालक्रम का वर्णन मिलता है। यह बाद के राजवंशों द्वारा अपनाई गई प्रथा बन गई। गुप्त अभिलेख अपने पूर्ववर्तियों की गतिविधियों का विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। अपने ऐहोल (कर्नाटक) शिलालेख में चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय अपनी वंशावली देता है और अपनी उपलब्धियों को सूचीबद्ध करता है। इसी प्रकार राजा भोज की ग्वालियर *प्रशस्ति* में उनके पूर्ववर्तियों एवं उनकी उपलब्धियों का पूरा विवरण मिलता है और साम्राज्यवादी प्रतिहारों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। देवपारा (ढाका डिविज़न, दक्षिणी-मध्य बांग्लादेश) से सेन वंश के शासक विजयसेन की *प्रशस्ति* एक चट्टान पर उत्कीर्ण प्राप्त हुई है। मजूमदार (1996: 54) हमें सूचित करते हैं:

> इसका मात्र उद्देश्य विजयसेन द्वारा एक मंदिर के निर्माण को दर्ज करना है। लेकिन यह लगभग पूरी तरह से इस महान् राजा की प्रशंसात्मक स्तुति को समर्पित है जिसमें उसकी विजयों एवं उपलब्धियों का वृत्तांत दर्शाया गया है ...

प्रशस्तियों की एक अन्य श्रेणी में राजाओं या उनके अधीनस्थों द्वारा एक बाँध, जलाशय, तालाब, कुआँ, भोजनगृह, विश्रामगृह, आदि या अन्य धर्मार्थ और पुण्यात्मक कार्यों के निर्माण की जानकारी मिलती है। रूद्रदामन का जूनागढ़ (गिरनार) शिलालेख, जिसके बारे में हम बाद में इस इकाई में विस्तार से अध्ययन करेंगे, इस तरह की *प्रशस्तियों* का एक आद्यरूप (prototype) है जो सुदर्शन झील के निर्माण और इसकी नियमित रूप से की गई मरम्मतों को दर्ज करता है।

इनके अलावा हम अभिलेखों के अन्य विविध प्रकार भी पाते हैं जैसे नाम का उत्कीर्णन, छोटे उत्कीर्ण लेख, धार्मिक सूत्र/मंत्र और मुहरों पर लेखन, आदि।

3) अभिलेखों में आमजनों की भी आवाज़ हो सकती है। इस प्रकार के अभिलेखों की सूची निम्नलिखित है:

क) *दान-शासन* अभिलेख

धार्मिक प्रतिष्ठानों का उपहार या दान (votive inscriptions) दर्ज करने या पूजा के लिए मूर्तियों की प्रतिस्थापना और अभिषेक, उससे संबंधित विशिष्ट घटनाएँ, आदि को दर्ज करते अभिलेख

(*दान-शासन*)। गृहस्थ, भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ अनेक प्रकार के कारणों और उद्देश्यों, जैसे सामाजिक मान्यता एवं प्रशंसा, उनके दान और धर्मपरायणता को अविस्मरणीय बनाने के लिए बौद्ध *संघ,* संघाराम (*मठ*) या *स्तूप* को दिए गए उनके उपहारों एवं दानों को दर्ज करना चाहते थे। ये अभिलेख उन लोगों के किए थे जो बौद्ध स्थलों पर पूजा के लिए या अंजलि प्रदान करने के लिए जाते थे। यह तार्किक रूप से कल्पना की जा सकती है कि इन धार्मिक कृत्यों को दर्ज करने के पीछे एक अन्य कारक आगंतुकों को उपहार देने एवं दान करने के लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित करना अवश्य रहा होगा और जो ऐसा कर चुके हैं उनको पुनः ऐसा करने के लिए प्रेरित करना रहा होगा। ये अभिलेख अनेक *स्तूप* स्थलों पर *स्तूप* की बाहरी सतहों पर उत्कीर्ण पाए जाते है जहाँ उन्हें आसानी एवं सुविधाजनक रूप से सभी लोगों के द्वारा पढ़ा जा सके। कभी-कभी ये *वेदिका* (railing) पर भी उत्कीर्ण होते हैं। अधिकतर उदाहरणों में अभिलेख *स्तूप* के किसी अंश के निर्माण में योगदान को दर्ज करता है या फिर उस विशिष्ट भाग को जहाँ पर अभिलेख उत्कीर्ण है। ये अभिलेख साथ-साथ तत्कालीन शासक और उसके शासन, प्रशासन, नीतियों, उपलब्धियों, आदि को भी संदर्भित करते हैं। फिर भी यह तर्क दिया जाता है कि ये अभिलेख आधिकारिक आदेशों की तरह बहुत सावधानी से नहीं लिखे जाते थे इसलिए हमेशा ऐतिहासिक रूप से सटीक एवं अचूक नहीं हो सकते।

ख) ताम्रपत्र अभिलेख (*ताम्र-शासन*)

पहली सहस्राब्दि सी ई की आखिरी शताब्दियों में राजकीय भूमि-अनुदानों के रूप में कई हज़ार ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ये दान अभिलेख हैं जो मंदिरों, ब्राह्मणों, योग्य व्यक्तियों और अन्य लाभार्थियों को प्रदत्त भूमि एवं अन्य वस्तुओं के दान को दर्ज करते हैं। पूर्व मध्यकाल में दक्कन और दक्षिण भारत में सैंकड़ों की संख्या में मंदिर, ध्वज स्तंभ, आदि के निर्माण का वर्णन करने वाले दान शिलालेख पाए गए हैं।

ये अधिकतर तांबे के हाथ के बराबर के आकार वाले दो या दो से अधिक पत्रों/पट्टों/पत्तलों/पतरों पर अनुदान का विवरण अंकित करते हैं। इन पत्रों को कागज़ों के ढेर की तरह एक साथ जोड़ कर रखने के लिए एक छेद में छल्ला लगाकर रखा जाता था। यह विचार सनौबर (birch) के पेड़ की छालों और ताड़पत्र की पांडुलिपियों का अनुकरण करता प्रतीत होता है जिसमें पत्तियों को धागों से बाँधकर रखा जाता था। ये ताम्रपत्र अभिलेख भूमि पर अधिकारों एवं दायित्वों/कर्तव्यों के संबंध में सूचियाँ हैं। यद्यपि ये खरीद-बिक्री (*क्रय-शासन*), मंदिरों, देवताओं, ब्राह्मण लाभार्थियों, आदि को भूमि के उपहार/दान पर प्रकाश डालते हैं, ये दानदाताओं और प्राप्तकर्ताओं की वंशावली के साथ-साथ अन्य महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी के उपयोगी विवरण भी प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा कि हमें मजूमदार (1996: 54) बताते हैं:

> ये अनुदान अभिलेख भूमि की सीमाओं को परिभाषित करते हैं और अनुदान की वस्तु एवं शर्तों को निर्दिष्ट करते हैं, साथ ही अन्य दिलचस्प विवरण भी देते हैं जैसे कि भूमि की कीमत, इसके माप का तरीका, भविष्य में राजाओं को अनुदान को ज़ब्त न करने के लिए आग्रह और अनुदान का उल्लंघन करने वाले लोगों के लिए शास्त्रों में उल्लिखित मृत्यु के पश्चात् बड़े दंड की धमकी देने के लिए *शास्त्रों* से उद्धरण देते हैं ..

इस क्षमता में ताम्रपत्र अभिलेखों ने एक न्यायिक या कानूनी कार्य भी किया। भूमि के एक टुकड़े के स्वामित्व को लेकर विवाद के मामलों और अवसरों पर इन *ताम्र-शासनों* को निर्णय लेने का अधिकार निश्चित करने से पहले प्रस्तुत किया जाता था।

इसके अतिरिक्त, ये राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अच्छे स्रोत बन जाते हैं। इनसे हमें उच्च ख्याति एवं स्थिति के विद्वान ब्राह्मणों को *अग्रहार* नामक भूमि-अनुदानों के बारे में जानकारी मिलती है जिन्हें सभी करों से मुक्त माना जाता था।

ये ताम्रपत्र अभिलेख एक इतिहासकार के लिए मूल्यवान साधन हैं क्योंकि ये हमें समकालीन घटनाओं और आम लोगों के बारे में जानकारी देते हैं। अनेक अभिलेखों में वंशावली, वंश से संबंधित जानकारियाँ और कभी-कभी उन राजाओं के नाम भी हैं जो साहित्यिक ग्रंथों में सूचीबद्ध वंशावलियों में छूट गए हैं। पल्लव, चालुक्य और चोल काल के भूमि-अनुदान अभिलेख हमें समकालीन राजनीतिक संरचनाओं, कृषि विवरणों और राजस्व प्रणालियों के बारे में सूचित करते हैं।

ग) वीर-स्तम्भ

स्मारक शिलाओं/वीर-स्तम्भों (hero-stones; *विजय-शासन*), समाधि-स्तम्भों (gravestones; *वीरगल*), यज्ञ/बलि-स्तम्भों (sacrificial stones; *युप-शासन*), आदि पर नायक, शहीद, *सती*, आदि की स्मृति में निर्मित स्मारकों पर उत्कीर्ण अभिलेख।

थापर (2013: 340) इनका वर्णन इस प्रकार करती हैं:

> एक संपूर्ण रूप से अलग अभिलेखों की श्रेणी है जो पहली सहस्राब्दि ए डी के मध्य में संक्षिप्त दस्तावेज़ों के रूप में शुरू होती है लेकिन बाद की शताब्दियों में अधिक नियमित एवं विस्तृत होती जाती है। ये हैं नायक एवं किसी स्त्री के *सती* होने की स्मृति में लिखे गए अभिलेख। एक स्मृति-स्मारक के रूप में सीधे पत्थर का खड़ा करना महापाषाणीय संस्कृति के स्मारक-स्तंभ में देखा जा सकता है जिसे बाद में मृत लोगों के लिए बौद्ध स्मारकों ने अपनाया। अधिकतर घोड़े पर आसीन नायक का सामान्य रूप से चित्रण एक नयी विशेषता है जो जोड़ी गई है और धीरे-धीरे एक संक्षिप्त अभिलेख जोड़ा गया। *सती* को प्रतीकों द्वारा स्मरित किया गया है। इसमें स्थान एवं तिथि का विवरण तो कम से कम होता ही है। धीरे-धीरे वीर-स्तम्भ (hero-stone) पर कुछ प्रतिमायुक्त भागों को तराशा जाने लगा जिसमें युद्ध या आमतौर पर मवेशियों पर आक्रमण और नायकों को अपसराओं द्वारा स्वर्ग की ओर ले जाता दिखाया गया है। शीर्ष पर स्थित सूर्य और चंद्रमा निश्चित रूप से अनंत काल का प्रतिनिधित्व करते है। इसके साथ नायक की पहचान, तिथि और घटना को दर्ज करने वाले विस्तृत अभिलेख होते थे। ये संस्कृत में संक्षिप्त उल्लेख से घटना और व्यक्ति के संबंध में क्षेत्रीय भाषाओं में विस्तृत वृत्तांत बन गए। ऐसे वीर-स्तम्भ पूरे उपमहाद्वीप में पाए जाते हैं, विशेषकर उन सीमावर्ती क्षेत्रों में जिन पर राजनीतिक नियंत्रण बदलता रहता था।

घ) पुरालेख

अभिलेखों के कुछ और भी उपयोग एवं कार्य हो सकते हैं। वे उन मूर्तियों का तिथि-निर्धारण करने में सहायता करते हैं जिन पर वे अंकित हैं (*प्रतिमा-शासन*) और उनके बारे में अधिक जानकारी प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, कनिष्क की उल्लेखनीय, भव्य एवं प्रभावशाली लेकिन बिना सिर वाली मूर्ति की पहचान उनके नाम के मूर्ति के निचले हिस्से पर अंकित होने के कारण की जा सकी है।



कनिष्क की सीधी खड़ी शीर्ष-रहित मूर्ति, मथुरा संग्रहालय
श्रेय: बिस्वरूप गांगुली
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File: Kanishka_enhanced.jpg



'अशोक अपनी रानियों के साथ'; पहली-तीसरी शताब्दी सी ई; सन्नति-कनगनहल्ली स्तूप (जिला गुलबर्गा, कर्नाटक) जिसमें अशोक का नाम अंकित है

श्रेयः विकिमैपिया; उपिंदर सिंह, *ए हिस्ट्री ऑफ़ एंशिएंट एण्ड अर्ली मिडिवल इंडियाः फ्रॉम द स्टोन एज टू द ट्वेल्थ सेंचुरी*, नई दिल्ली, पियर्सन, 2008, पृ. 333

स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons. wikimedia.org/wiki/File:Kanaganahalli_Asoka_with_inscription.jpg

दुर्जनपुरा/दुर्जनपुर (विदिशा के निकट, मध्य प्रदेश) से प्राप्त तीन जैन मूर्तियों का गुप्त राजा रामगुप्त के समय में इन मूर्तियों के अभिलेखों के कारण सुरक्षित रूप से तिथि-निर्धारण किया जा सकता है और इसलिए उनकी कलात्मक योग्यता व महत्व के अतिरिक्त वे गुप्त इतिहास के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ भी है। खैरीगढ़ (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त गहरे पीले बलुआ पत्थर की असामान्य, विशाल आकार की घोड़े की मूर्ति को *अश्वमेध* यज्ञ में बलि के लिए गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा इस्तेमाल किए गए घोड़े के तौर पर दर्शाया गया है जिसके बारे में हमें उस पर अंकित क्षतिग्रस्त/धूमिल अभिलेख से जानकारी प्राप्त होती है। इस जानकारी की पुष्टि इस तथ्य से भी जा सकती है कि उसके सिक्कों पर भी *अश्वमेध* अनुष्ठान को दर्शाया गया है।

अभिलेखों को वर्गीकृत करने का एक और तरीका उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित करना हैः

1) **आधिकारिक/शासकीय अभिलेख** – इनमें प्रशस्तियाँ एवं राज्य के द्वारा पंजीकृत ताम्रपत्र अभिलेख शामिल हैं।

2) **व्यक्तिगत अभिलेख** – इनमें किसी व्यक्ति, परिवार, संप्रदाय या समुदाय के द्वारा अनुदान से संबंधित दस्तावेज़ शामिल होते हैं।

5.4 अशोक के अभिलेख

1837 तक अशोक एक प्रसिद्ध शासक नहीं था जब ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नियुक्त बंगाल में एक प्रशासनिक अधिकारी जेम्स प्रिंसेप का सामना एक ब्राह्मी शिलालेख से हुआ जिसमें 'देवानांपिय पियदस्सी' (देवताओं का प्रिय) नामक एक राजा का उल्लेख था। इसकी तुलना श्रीलंकाई ग्रंथ *महावंश* से की गई और यह निष्कर्ष निकाला गया कि शिलालेख में उल्लिखित राजा वास्तव में अशोक था।



दे वा नाम पि य स पि य द सी नो अ सो क रा जा 'देवानामपियस पियदसिनो (देवताओं का प्रिय) अशोकराजा', गुज्जरा (दतिया जिला, मध्य प्रदेश) लघु शिलालेख

श्रेयः Ashok.tapase

स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Gujarra_Devanampiyasa_Piyadasino_Asokaraja.jpg

यह इस महान् सम्राट के द्वारा शिलाओं एवं स्तंभों पर उत्कीर्ण नक्काशी के रूप में अद्भुत ऐतिहासिक खोजों की श्रृंखला में प्रथम था।

मजूमदार (1996: 53) बताते हैं:

> जब अशोक के अभिलेख पहली बार अठारहवीं शताब्दी के अंत में सामने आए तो उनकी लिपि चौदहवीं शताब्दी की तरह सभी के लिए एक पहेली थी जब सुल्तान फ़िरोज़ तुग़लक अशोक के शिलालेख वाले एक स्तंभ को दिल्ली लेकर आया और इसे भारतीय पंडितों द्वारा पढ़वाने का व्यर्थ प्रयास किया ... यह कार्य 1837 में पूर्ण हुआ और अगले पचास वर्षों के दौरान भारतीय पुरालेख को एक मज़बूत आधार मिला। कई विद्वानों के समर्पित एवं धैर्यवान कार्य से विभिन्न प्रकार की भारतीय लिपियों का गहन अध्ययन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण किया गया और भारतीय पुरालेख शास्त्र के लिए एक वैज्ञानिक आधार स्थापित किया गया जिसने उन्हें विभिन्न कालों एवं स्थानों से संबंध स्थापित करना संभव बनाया। ऐतिहासिक लेखों के रूप में उनके आंतरिक मूल्य के अतिरिक्त अशोक के अभिलेख इस प्रकार भारत में अभिलेखीय और पुरालेखीय अध्ययन के शुरुआती बिंदु के रूप में अत्यधिक मूल्यवान साबित हुए हैं।

तीसरी शताब्दी बी सी ई के अशोक के अभिलेख उसके शासन के विभिन्न शासकीय वर्षों में उत्कीर्ण किए गए हैं जो हमें ज्ञात सबसे पुराने पढ़े गए अभिलेख हैं। ज़्यादातर, उसके अपने शब्दों में, वे राजकीय आदेश थे जो कुलीनों/अभिजात्यों, अधिकारियों या साधारण जनता को सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक मामलों में संबोधित करते थे। जैसा कि मजूमदार (1992: 53) दिलचस्प टिप्पणी करते हैं:

> ये बाईस शताब्दियों में एक महान् शासक के जीवन और व्यक्तित्व को एक अनोखी जीवंतता के साथ व्यक्त करते हैं ... उस आध्यात्मिक महानता को निष्ठापूर्वक दर्शाते हैं जो भारतीय सभ्यता की महिमा का निर्माण करती है ... अशोक के अभिलेख अपने आप में ही एक वर्ग हैं और ये उस काल के इतिहास के बारे में हमारे ज्ञान में बड़े पैमाने पर वृद्धि करते हैं और उस मनोभाव को समझाते हैं जिसने राजसिंहासन पर बैठने वाले महानतम व्यक्तियों में से एक को जीवंत किया। कोई अन्य शिलालेख रुचि या ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से उसके आसपास भी नहीं हैं।

ये तीन भाषाओं – प्राकृत, यूनानी और आर्माइक – और चार लिपियों – ब्राह्मी[1] , खरोष्ठी[2] , यूनानी और आर्माइक – में लिखे गए थे। अशोक ने वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान में स्थित अपने साम्राज्य के कुछ हिस्सों में आर्माइक और यूनानी लिपियों का इस्तेमाल किया। तथ्य की बात है कि यह वह क्षेत्र था जिसे सेल्यूकस निकेटर ने मौर्यों को सौंप दिया था। गांधार[3] क्षेत्र में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग होता था। ज़्यादातर अशोक के अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखे गए थे जो उसके विशाल साम्राज्य में फैले हुए थे जिसका विस्तार पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में पश्चिम में सिंधु नदी से लेकर दक्षिण में मैसूर के पठार तक फैला हुआ था।

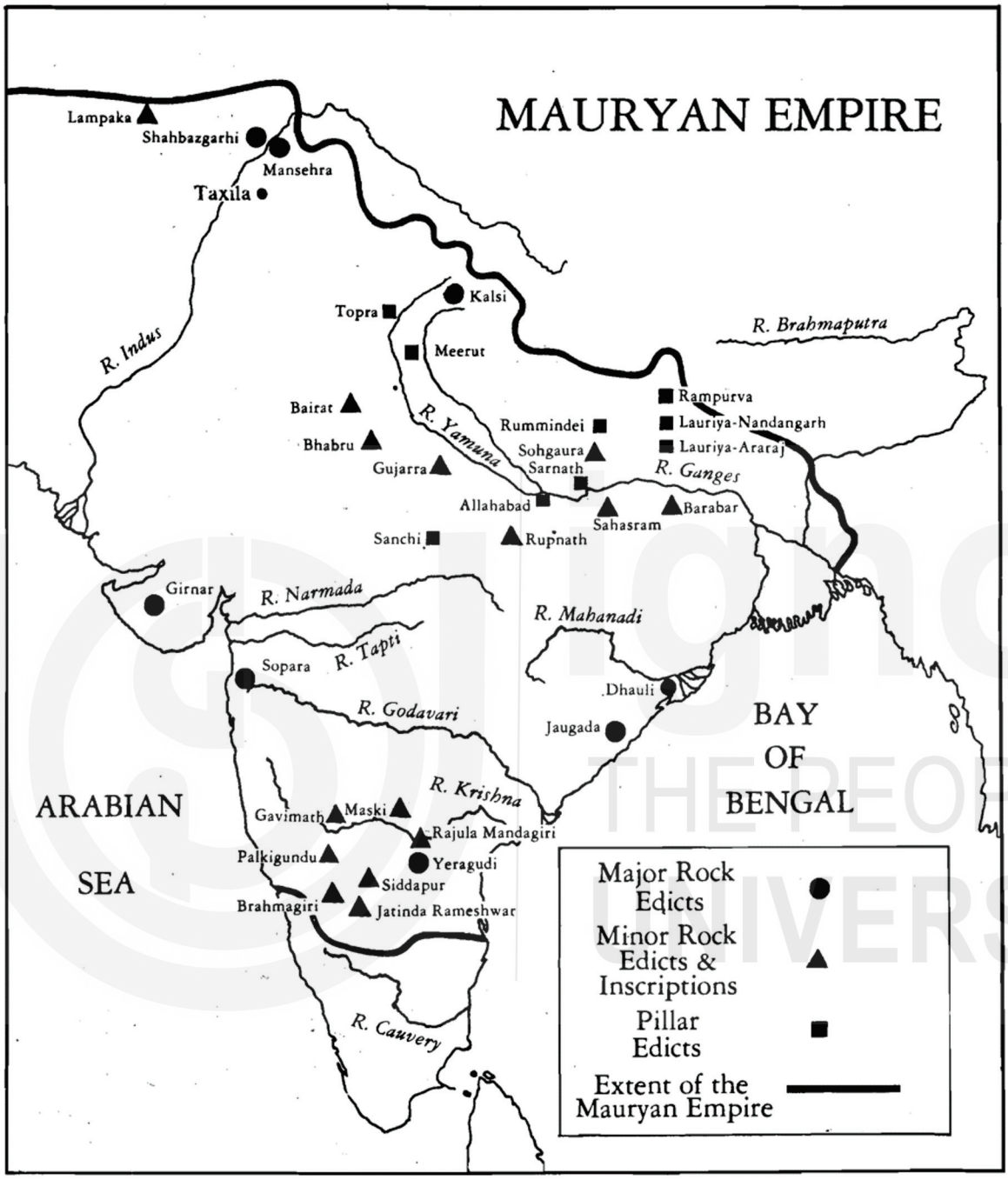
---

[1] बाएँ से दाएँ की ओर लिखित, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र को छोड़कर अशोक के सभी अभिलेख उत्तर में कलसी/खालसी (उत्तराखण्ड) से लेकर दक्षिण में इसी लिपि में उत्कीर्ण हैं। हमें ज्ञात सबसे पुरानी लिपि के रूप में एक धीमी और निरंतर प्रक्रिया में आज प्रचलित सभी भारतीय भाषाएँ इससे विकसित हुई हैं।

[2] आर्माइक से प्रभावित, यह दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती थी। इसका प्रयोग अशोक के शासन के पश्चात् भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में कई शताब्दियों तक होता रहा था लेकिन बाद में यह बिना कोई चिन्ह छोड़े गायब हो गई।

[3] प्राचीन भारतीय उपमहाद्वीप में यह क्षेत्र आज का उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान एवं पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान है। इसमें काबुल, पेशावर स्वात एवं तक्षशिला शामिल हैं।

अशोक के अभिलेखों में 14 वृहद शिलालेख, सात स्तंभ लेख और कुछ लघु शिलालेख हैं। उसके अभिलेख (*धम्म-लिपि*) मुख्यतः उसकी ***धम्म*** नीति का प्रचार करने के लिए उत्कीर्ण किए गए उसके अभिलेखों के स्थल हमें उसके साम्राज के विशाल विस्तार का अनुमान लगाने में सहायक हैं।



स्रोतः ई.एच.आई.-02, खण्ड-5, इकाई-18

उसके वृहद शिलालेख निम्न स्थानों पर पाए गए हैं:

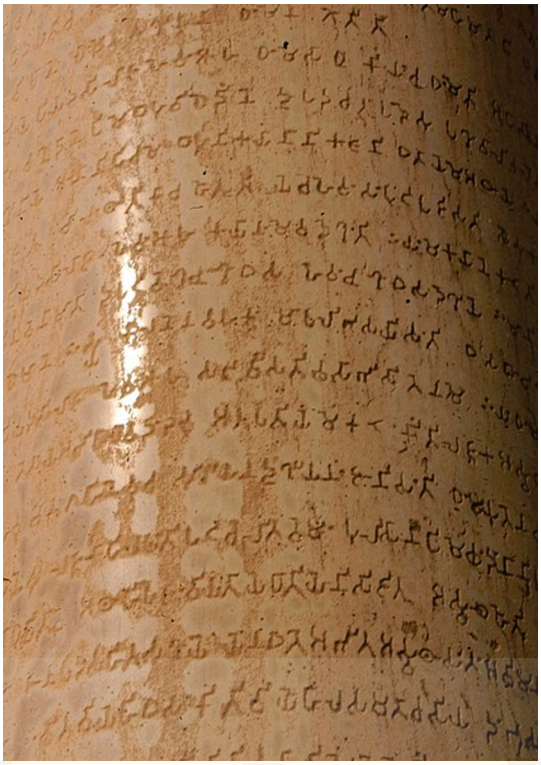
1) पाकिस्तान में शाहबाज़गढ़ी और मानसेहरा
2) कलसी/खालसी (देहरादून जिला, उत्तराखण्ड)
3) काठियावाड़ (गुजरात) में जूनागढ़ के निकट गिरनार
4) सोपारा (महाराष्ट्र)
5) भुवनेश्वर (ओडिशा) के निकट धौली
6) जौगड़ (Jaugad)/जुगड़ (Jugarh) (गंजाम जिला, ओडिशा)



धौली में अशोक के वृहद शिलालेख के स्थल पर पत्थर से तराशा हुआ हाथी
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण स्मारक क्रमांक एन.ओ.आर.-59
श्रेयः कुमार शक्ति
स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File: Elephant-sculpture-dhauli.JPG

उसके स्तंभ लेख स्थित हैं:

1) दिल्ली (मूल रूप में अम्बाला के निकट टोपरा {हरियाणा} एवं मेरठ {उत्तर प्रदेश} में स्थापित)
2) उत्तर प्रदेश में कौशांबी,
3) लौरिया अरेराज/लैरिया अराराज (पूर्वी चम्पारण जिला, बिहार)
4) लौरिया नंदनगढ/लौरिया नवन्दगढ़ (पश्चिमी चम्पारण जिला, बिहार)
5) रामपुरवा (पश्चिमी चम्पारण जिला, बिहार)
6) साँची (भोपाल के निकट रायसेन जिला, मध्य प्रदेश)
7) वाराणसी/बनारस के निकट सारनाथ
8) नेपाल में लुंबिनी या रुम्मिनदेई



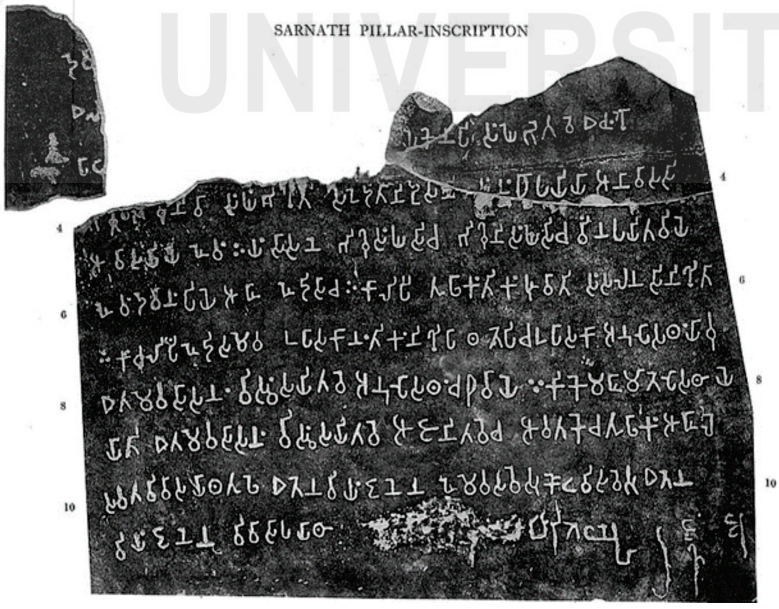
अशोक का लौरिया अरेराज अभिलेख
श्रेय: सचिन कुमार तिवारी
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Ashoka_Lauriya_Areraj_inscription.jpg



अशोक के लैरिया नन्दनगढ़ स्तंभ के ऊपरी भाग में सिंह शीर्ष
श्रेय: ब्रिटिश लाइब्रेरी (1865 का चित्र)
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://en.wikipedia.org/wiki/File:Lauria_Nandangarh_lion.jpg

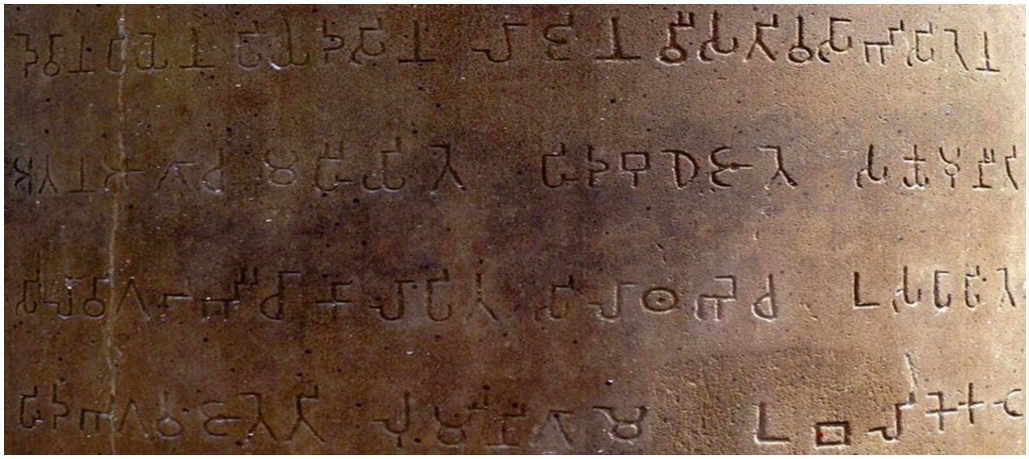


रामपुरवा अशोक स्तंभ का मूल वृषभ शीर्ष; वर्तमान में राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली में स्थित
श्रेय: एम. अमिताव घोष
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://en.wikipedia.org/wiki/File: Rampurva_ bull_in_ Presidential_ Palace_high_closeup. jpg



सारनाथ स्तंभ-अभिलेख
स्रोत: यूजीन हल्ट्ज़स्च, कॉर्पस इन्सक्रिप्शनम सारनाथ स्तम्भ अभिलेख इंडिकारम, संस्करण 1: इंसक्रिप्शंस ऑफ़ अशोक, 1925, क्लेरेंडॉन प्रेस, ऑक्सफ़ोर्ड, पृ. 191
वेब स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Sarnath_ pillar_inscription.jpg

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY



अशोक का लुंबिनी स्तंभ लेख (नेपाल), ब्राह्मी लिपि
श्रेयः Photo Dharma
स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Lumbini_-_Pillar_Edict_in_Brahmi_Script,_Lumbini_(9241396121).jpg

जैसा कि सरसरी तौर पर पहले कहा गया था, लुंबिनी स्तंभ लेख एक स्मारक अभिलेख है जो बुद्ध के जन्मस्थान पर अशोक की यात्रा को अंकित करता है। इसका एक अंश इस प्रकार है:

जब राजा देवानामप्रिय प्रियदर्शिन के राज्याभिषेक के बीस वर्ष हो गए वह स्वयं आए और (इस स्थान पर) पूजा की क्योंकि बुद्ध शाक्यमुनि का जन्म यहाँ हुआ था। उन्होंने यहाँ एक घोड़े की मूर्ति बनवाई एवं एक शिलास्तंभ स्थापित करवाया (यह दिखाने के लिए) कि धन्य (बुद्ध) का जन्म यहाँ हुआ था। (उन्होंने) लुम्बिनी के गांव को करों से मुक्त कर दिया और केवल (उत्पादन का) आठवाँ भाग ही देय हो गया।

स्रोतः यूजीन हल्ट्ज़्स्च, *कॉर्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकारम*, संस्करण 1: *इंसक्रिप्शंस ऑफ़ अशोक*, 1925, क्लेरेंडॉन प्रेस, ऑक्सफ़ोर्ड, पृ. 164-165

कर्नाटक में कई स्थलों पर अशोक के लघु शिलालेख बड़ी मात्रा में पाए गए हैं, जैसेः 1) ब्रह्मगिरी; 2) सिद्यापुर/सिद्यापुरा (ब्रह्मगिरि के निकट); 3) जतिंग-रामेश्वरा/जतिंग-रामेश्वर; और 4) मस्की (रायचूर/रायचुर जिला)।

अन्य लघु शिलालेख इन स्थलों पर पाए गए हैं: 1) रूपनाथ (जबलपुर के निकट, मध्य प्रदेश); 2) सहसराम (शाहाबाद जिला, बिहार); और 3) बैराव (जयपुर के निकट, राजस्थान)।

उसके विस्तृत अधिकार क्षेत्र की सीमा के बारे में हमें उचित जानकारी देने के अलावा ये शिलालेख महत्वपूर्ण व्यापार मार्गों पर स्थित थे। इनमें से कुछ परिधीय क्षेत्रों की सीमा से लगे हुए थे जो सड़क मार्ग और नदी यातायात को जोड़ते थे। कई इतिहासकार और उनके लेखन यह सुझाते हैं कि इन रणनीतिक या सामरिक स्थानों पर, विशेष रूप में प्रायद्वीप को नियंत्रित करने के लिए, इन शाही आदेशों को स्थापित करने के पीछे प्राथमिक प्रेरणा एवं कारक कच्चे माल तक पहुँच और उपलब्धता और उसकी प्राप्ति थी। हालांकि यह पूर्ण आश्वासन के साथ नहीं कहा जा सकता है कि जिन क्षेत्रों में उसके शिलालेख नहीं पाए गए हैं उनका शासन उसी प्रकार चलता था जिस प्रकार वहाँ जहाँ वे प्राप्त हुए हैं।

उसकी राजकीय घोषणाएँ साम्राज्य के सीमावर्ती इलाकों में लोगों पर भी टिप्पणी करती हैं जो उसके साम्राज्य की रूपरेखा की और दृढ़ता से पुष्टि करती हैं। वे हमें सूचित करती हैं कि सेल्यूकस राजा एंटिओकस द्वितीय का क्षेत्र उत्तर-पश्चिम में उसके साम्राज्य से परे था, दक्षिण में चोलों, चेरों (उसके शिलालेखों में प्रयुक्त शब्द केरलपुत्र है), पांड्यों, सत्यपुत्रों और श्रीलंका का भी उसके साम्राज्य से बाहर राजवंशों एवं स्थानों के रूप में उल्लेख है। साम्राज्य के भीतर विविध मूल एवं संस्कृतियों के लोगों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए, उत्तर-पश्चिम में *यवनों* और कंबोजों के बारे में कहा गया है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी भारत के भागों एवं दक्कन में रहने वाले भोजों, पिटिनिकों, आंध्रों, पुलिंदों के बारे में भी कहा गया है। वह जीते हुए क्षेत्रों (*विजित*) और राजकीय क्षेत्रों (*राजविषय*) को सीमावर्ती क्षेत्रों (*प्रत्यंत*) से अलग करता है एवं उन्हें चिह्नित करता है। अशोक के अभिलेख हमें यह आभास देते हैं कि पूर्व की ओर के साम्राज्य में उत्तर और दक्षिण बंगाल शामिल थे।

अशोक का तेरहवाँ शिलालेख

अशोक के सभी शिलालेखों में शिलालेख XIII को उसके समय का सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक आदेश माना जाता है। यह पुनर्स्मरण के लिए स्वर तैयार करता है। कलिंग (वर्तमान ओडिशा एवं आसपास का क्षेत्र) युद्ध जीत लिया गया था और युद्ध के कारण हुई मृत्यु, विनाश और पीड़ा पर उसे पछतावा था।

राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदस्सी राजा ने कलिंग को विजित किया। डेढ़ लाख लोग (बंदी बनाकर) देश से बाहर भेजे गए, एक लाख लोग मारे गए और इससे कई गुना लोग (महामारी, आदि से) मरे। इसके बाद अब जबकि कलिंग जीत लिया गया है देवताओं के प्रिय द्वारा धम्म का पालन बड़े आग्रह के साथ किया गया, धम्म की आकांक्षा रखी गई और धम्म की शिक्षा दी गई। कलिंग जीतने पर देवताओं के प्रिय को पश्चाताप हुआ क्योंकि जब एक स्वतंत्र देश जीता गया लोगों की हत्या, मृत्यु और देश निष्कासन से देवताओं के प्रिय को अत्यन्त दुख हुआ। और उनका मन बहुत भारी हो गया। देवताओं के प्रिय को इस बात से और भी दुख हुआ कि जो लोग वहाँ रहते हैं, चाहे वे ब्राह्मण हों, श्रमण हों या अन्य संप्रदाय के लोग जो अपने से बड़ों, माता-पिता और गुरुओं के प्रति आज्ञाकारिता रखते हैं और अपने मित्रों, परिचित व्यक्तियों, सहकर्मियों, संबंधियों, दासों एवं सेवकों के प्रति अनुराग रखते हैं ये सभी हिंसा, हत्या और अपने प्रियजनों के वियोग से पीड़ित एवं प्रभावित हुए हैं। यहाँ तक कि जो लोग भाग्य से बच गए हैं और जिनका प्रेम (युद्ध के क्रूर प्रभाव से) कम नहीं हुआ है वे भी अपने मित्रों, परिचितों, सहकर्मियों और संबंधियों की विपत्तियों के कारण अत्यंत पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं। दुख में सभी पुरुषों की इस भागीदारी ने देवताओं के प्रिय के मन पर काफ़ी बोझ डाला है। यवनों (यूनानियों) के अलावा कोई ऐसी भूमि नहीं हैं जहाँ ब्राह्मणों एवं श्रमणों की धार्मिक व्यवस्था नहीं है और ऐसी कोई भूमि नहीं हैं जहाँ लोग एक दूसरे संप्रदाय को आश्रय न देते हों। कलिंग की विजय के दौरान जिन लोगों की हत्या हुई, मृत्यु हुई या देश निष्कासन हुआ आज यदि उसका सौवाँ या एक हज़ारवाँ भाग भी समान रूप से पीड़ित होता है तो यह देवताओं के प्रिय के मन पर बहुत भारी बोझ का कारण होगा।

देवताओं का प्रिय राजा विश्वास करता है कि क्षमा-योग्य गलती करने वाले लोगों को क्षमा कर देना चाहिए और देवताओं के प्रिय अपने साम्राज्य की वनवासी जनजातियों को भी सुलह के साथ रखते हैं लेकिन उन्हें चेतावनी देते हैं कि उनके पास पश्चाताप के दौरान भी शक्ति है, और वह उन्हें पश्चाताप के लिए कहते हैं, अन्यथा ऐसा न हो कि वे मारे जाएँ। क्योंकि देवताओं के प्रिय चाहते हैं कि किसी भी प्राणियों के प्रति हिंसा न हो। उन्हें आत्मसंयमित, शांत मन का और मृदु होना चाहिए।

देवताओं के प्रिय धम्म की विजय को सबसे बड़ी विजय मानते हैं और इसके अतिरिक्त देवताओं के प्रिय ने अपनी सभी सीमाओं पर 600 योजनों (लगभग 1500 मील) की दूरी तक यह विजय प्राप्त की है, जहाँ एंटिओकस नामक यूनानी राजा शासन करता है, और एंटिओकस के साम्राज्य के परे चार राजा टॉलेमी, एंटिगोनस, मागस और अलेक्ज़ेन्डर शासन करते हैं, और दक्षिण में चोलों और पाण्डयों एवं सीलोन तक विजय प्राप्त की है। इसी प्रकार साम्राज्य के विभिन्न भागों में यवन और कंबोज, नाभक और नाभपंक्ति, भोज एवं पितिनिक, आंध्र और पारिन्द (Parindas) हर जगह लोग देवताओं के प्रिय के धम्म के अनुदेशों का पालन करते हैं। यहाँ तक कि जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं गए हैं वहाँ के लोग धम्म के अनुसार उसके आचरण, उसके उपदेशों और अनुदेशों का पालन करते हैं और इनका पालन जारी रखेंगे।

सर्वत्र विजय से जो प्राप्त हुआ है वह सर्वत्र विजय आनंददायक हैं। यह आनंद धम्म द्वारा विजय के माध्यम से प्राप्त किया गया है – फिर भी यह केवल एक छोटी प्रसन्नता है क्योंकि देवताओं के प्रिय इसका महत्व उसके परिणामों में देखते हैं जो परालौकिक है।

धम्म के इस शिलालेख को इसलिए उत्कीर्ण किया गया है कि मेरा कोई पुत्र या प्रपौत्र नई विजय प्राप्त करने के बारे में न सोचे और वे जो भी जीत हासिल करें उनमें धैर्य और हल्के दंड से संतुष्ट रहें। उन्हें केवल धम्म द्वारा विजय को ही सच्ची विजय मानना चाहिए और धम्म में आनंद ही उनका संपूर्ण आनंद होना चाहिए क्योंकि यह इस लोक एवं परलोक दोनों में मूल्यवान है।

स्रोतः रोमिला थापर, *अशोक एंड द डिक्लाइन ऑफ़ द मौर्याज़ (द्वितीय संस्करण)*, 1973, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 255.57)

अशोक के इस सबसे लंबे अभिलेख का विश्लेषण करने पर यह ध्यान देने योग्य है कि पश्चाताप की मनोदशा में भी अशोक अपनी शक्ति की प्रबल भावना व्यक्त करता है, विशेषकर वनवासियों से उचित व्यवहार की आशा करता है और उन्हें ऐसा न करने पर गंभीर परिणामों की भी चेतावनी देता है। वह अपने विशाल क्षेत्र की सीमाओं के बारे में भी जानकारी देता है जहाँ उसने अपनी प्रजा द्वारा *धम्म* की नीति का पालन करवाकर विजय की स्थापना की। इसके अतिरिक्त वह स्वयं की प्रशंसा करता है, अपनी पीठ थपथपाता है और *धम्म* के द्वारा एक सुखद वातावरण बनाने के लिए स्वयं को श्रेय देता है और *धम्म* के सिद्धांतों का सच्चाई से पालन करने पर अच्छे पुनर्जन्म या अच्छे अगले जीवन का आश्वासन देता है। अंत में, वह अनावश्यक विजय और हिंसा, रक्तपात और ऐसे आक्रमणों के कारण जीवन और संसाधनों की हानि की इच्छा को त्यागने के लिए अपनी भावी पीढ़ी को एक शांतिपूर्ण संदेश देता है। इसके बजाय वह उन्हें *धम्म* का पालन करने के लिए कहता है जो उसके अनुसार वर्तमान और भविष्य दोनों में प्रसन्नता का कारण बनता है और प्रसन्नता प्रदान करता है।

इस प्रकार हम स्वभाविक रूप से अनुमान लगाते हैं कि अशोक के अधीन मगध साम्राज्य ने उच्चतम विस्तार, संगठन और नियंत्रण प्राप्त किया। लेकिन हमें युद्धों के अंत या कम से कम आक्रमणों को टालने के लिए किए गए सचेत प्रयास की भी सशक्त भावना दिखाई देती है। इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि राज्य की नीति में अहिंसा के सिद्धांत को फैलाना और लागू करना एक अनूठा प्रयोग था। हालांकि इतिहासकारों के एक समूह और दूसरे के बीच विवाद एवं असहमति है। एक मत अशोक को अपनी प्रजा के साथ-साथ संपूर्ण मानवता के कल्याण से संबंधित लोक परोपकारी पिता के रूप में आदर्श मानता है। इसके विरूद्ध यह तर्क दिया जाता है कि यह धारणा एक विशाल राज्य को वैचारिक रूप से बांधने के लिए एक जानबूझ कर किए गए प्रयास और एक विशाल राज्य को विचारधारानुरूप नियंत्रित करने के लिए 'सैद्धांतिक साधान' की अनदेखी करता है जो अन्यथा शासित व नियंत्रित करने में शायद कठिन साबित होता।

बोध प्रश्न-1

1) प्राचीन भारतीय अभिलेखों के दो प्रकारों का वर्णन किजिए।

.....

.....

.....

.....

2) अशोक के अभिलेखों के बारे में आपकी क्या समझ है?

.....

.....

.....

.....

5.5 प्राचीन भारत के कुछ अन्य महत्वपूर्ण अभिलेख

इस खंड में हम प्रारंभिक भारत के इतिहास के निर्माण में सहायक कुछ महत्वपूर्ण अभिलेखों की चर्चा करेंगे।

5.5.1 *प्रयाग-प्रशस्ति*

समुद्रगुप्त के दरबारी कवि हरिसेन/हरिषेण द्वारा गद्य और पद्य में रचित *प्रयाग-प्रशस्ति* समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व, व्यक्तिगत गुणों, महानता और गौरवशाली पराक्रमों के बारे में एक पूर्वकालिक देदीप्यमान वर्णन है। यह अपने समय में गुप्त साम्राज्य की सीमाओं पर भी प्रकाश डालता है। यह आज भी उसके शासन का मुख्य ऐतिहासिक स्रोत बना हुआ है। मजूमदार (1996: 54) पुष्टि करते हैं:

> इलाहाबाद *प्रशस्ति* ने इस महान् नायक के नाम एवं प्रसिद्धि को गुमनामी से सुरक्षित रखा है और अन्य अभिलेखों के साथ यह गुप्तकाल के बारे में हमारे ज्ञान का प्रमुख आधार है।

यह संस्कृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। उपिंदर सिंह (2008: 477) जानकारी देती हैं:

> इस *प्रशस्ति* में समुद्रगुप्त को एक असाधारण व्यक्तित्व से संपन्न पुरुष एवं आदर्श सम्राट के रूप में चित्रित किया गया है। इसके साथ ही उसकी सैन्य उपलब्धियों और विजयों के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस *प्रशस्ति* में जिन शासकों एवं स्थानों का उल्लेख किया गया है उनमें से कई के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता किंतु फिर भी इलाहाबाद *प्रशस्ति* से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त साम्राज्य उस समय अस्तित्व में रहे विविध राजनैतिक संबंधों के जटिल तंत्र के बिल्कुल केंद्र में स्थित था।

सिंह (2008: 478) आगे सूचित करती हैं:

> इलाहाबाद *प्रशस्ति* के आधार पर समुद्रगुप्त एक अथक साम्राज्यवादी सम्राट के रूप में चित्रित होता है किंतु ये सैन्य अभियान हरिषेण के अपने सम्राट के छविचित्र का केवल एक हिस्सा थे।

उसका वर्णन एक योग्य एवं सहिष्णु शासक के रूप में भी किया गया जो अपनी प्रजा के लोक-कल्याण के प्रति चिंताशील था। प्राचीन राजाओं की *प्रशस्तियों* में अक्सर दिखाई देने वाले ऐसे पारंपरिक निरूपणों के अतिरिक्त कुछ ग़ैर-पारंपरिक तत्व भी हैं जो समुद्रगुप्त की वास्तविक प्रतिभा पर आधारित रहे होंगे। उदाहरण के लिए, ऐसा कहा गया है कि उसकी तीक्ष्ण और परिष्कृत बौद्धिकता के सामने बृहस्पति (देवताओं के आचार्य) भी लज्जित हो जाते थे और इसी प्रकार उसके शानदार संगीत प्रदर्शन के सामने तुम्बुरू एवं नारद भी लज्जित हो जाते थे। उसे *कविराज* (कवियों में राजा) कहा गया है जिसकी रचनाएँ श्रेष्ठ कवियों में भी श्रेष्ठतम थीं।

प्रशस्ति के अनुसार वे लोग एवं स्थल, जिनमें से कुछ दूरवर्ती क्षेत्रों में थे, जिन्हें हरिषेण के संरक्षक-राजा द्वारा परास्त और अपने अधीन किया गया था उन्हें निम्नलिखित में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1) गंगा-यमुना *दोआब*[4] के राजा जिनके क्षेत्र गुप्त साम्राज्य में मिला लिए गए;
2) पंजाब में मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर उत्तजीवी गणतंत्र;
3) पूर्वी हिमालय राज्यों एवं कुछ सीमावर्ती प्रांतों, जैसे वर्तमान का नेपाल, असम एवं बंगाल, के शासक जो उपहार देने पर राज़ी हुए;
4) मध्य भारत में विन्ध्य[5] पर्वतों के साथ लगे वन-राज्यों (*आटविक राज्य*) के राजा एवं दक्खन[6] के राजा जिन्हें बलपूर्वक सेवक (दास) बनाया गया;
5) पूर्वी दक्कन और दक्षिण भारत में 12 शासक जिन्हें पकड़ा गया और पराजित (*ग्रहण*) किया गया और फिर उन्हें नज़राना देने की शर्त पर स्वतंत्र/पुनर्स्थापित (*मोक्ष*) किया गया। समुद्रगुप्त की भुजाओं का भार कांची[7] तक पहुँचा जहाँ पल्लवों को उसका आधिपत्य मानने एवं स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। इन राजाओं की सूची इस प्रकार है:
   क) कोसल का महेन्द्र
   ख) कोवरल/कैरल/कौरल का मंथराज/मंतराज
   ग) महाकांतर का व्याघ्रराज
   घ) पिस्तपुर/पिस्तपुर का महेन्द्र
   ड.) कोट्टुर का स्वामीदत्त
   च) इरंडेपल्ली/इंरडपल्ल का दमन
   छ) काँची का विष्णुगोप
   ज) वेंगी का हस्तिवर्मन
   झ) अवमुक्त का निलराज/नीलराज
   ण) पलक्क/पालाक्कड़ का उग्रसेन
   ट) देवराष्ट्र का कुबेर
   ठ) कुस्थलपुरा/कुस्तलपुरा का धनंजय
6) शक और कुषाण जिनमें से कुछ वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान में स्थित थे

यह स्तुति अभिलेख इस बात की पुष्टि करता है कि समुद्रगुप्त ने आक्रामक रूप से उपरोक्त शासकों को सत्ता से बाहर कर दिया और अपने वर्चस्व के सामने उनको झुकाया। उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा तत्कालीन गुप्त साम्राज्य की परिधि से परे फैल गई। आर. एस. शर्मा (2018 [2005]: 233) कहते हैं:

[4] दो नदियों के बीच की भूमि
[5] मध्य-पश्चिम भारत में पर्वत श्रृंखलाओं, पहाड़ियों, उच्च भूमियों और पठारों की एक अनिरंतर श्रृंखला
[6] पश्चिमी और पूर्वी घाटों के बीच नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित विशाल पठार और प्रायद्वीपीय भू-भाग
[7] वर्तमान काँचीपुरम शहर, तमिलनाडु

> यदि हम इलाहाबाद के स्तुतिपूर्ण अभिलेख पर विश्वास करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त को पराजय के बारे में पता ही नहीं था और उसके पराक्रम एवं सैनिक नेतृत्व के कारण उसे भारत का नेपोलियन कहा जाता है ... अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में उसकी शक्ति का प्रभाव एक काफ़ी विशाल क्षेत्र में रहा।

अभिलेख के आधार पर इतिहासकारों का मानना है कि उसने ***आर्यावर्त*** में दो आक्रमण अभियान चलाए थे। अभिलेख पहले मुख्यतः पश्चिमी गंगा मैदानी एवं आधुनिक दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में चार *आर्यावर्त* के शासकों की पराजय के बारे में बताता है, फिर दक्षिण में किए गए अभियानों का वर्णन करता है और पुनः नौ *आर्यावर्त* शासकों की हार की घोषणा करता है। *आर्यावर्त* के इन शासकों को उखाड़ फेंका गया, उनका नाश कर दिया गया और मार डाला गया। *आर्यावर्त* में उसकी साम्राज्यवादी सफलता ने उसे गंगा घाटी एवं आसपास के क्षेत्रों पर दृढ़ नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम बनाया। *आर्यावर्त* के राजा जो उसकी शक्ति के समक्ष नहीं टिक सके वे थेः

1) अछिच्छत्र (बरेली जिला, उत्तर प्रदेश) पर शासन करने वाला राजा अच्युत/अच्युत-नंदिन

2) नागसेन – वह नाग/नव-नागवंश से संबंधित था जिसने सात पीढ़ियों तक तीन राजधानियों से शासन किया थाः

   क) मथुरा (उत्तर प्रदेश)

   ख) पद्मावती (आधुनिक पवाया, मध्य प्रदेश)

   ग) कांतिपुरी/कांतिपुर (ग्वालियर क्षेत्र, मध्य प्रदेश)

3) बलवर्मन/बलवर्मा – एक मत के अनुसार वह वर्मन राजवंश (लगभग 350-650 सी ई) का सम्राट था जो कि कामरूप (प्राचीन असम क्षेत्र) साम्राज्य का पहला ऐतिहासिक राजवंश था। इस मत के अनुसार उसने चौथी-पाँचवीं शताब्दी सी ई के दौरान शासन किया। एक अन्य मत उसे कौशांबी (प्रयागराज के समीप, उत्तर प्रदेश) के माघ वंश से संबंधित बताता है। यह उन्हें मौखरियों का पूर्वज मानता है जिन्होंने आरंभ में गुप्तों के सामंतों के रूप में सेवा की और जिनके नाम के अंत में 'वर्मन' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। एक अन्य मत उसे एरण के शक शासक श्रीधर-वर्मन के उत्तराधिकारी के तौर पर देखता है। यह इस बात पर आधारित है कि समुद्रगुप्त ने एरण के शकों का अंत किया, जैसा कि एरण में उसके अभिलेख में कहा गया है।

4) कोटा-कुलज (Kota-Kulaja): वह कोटा परिवार से संबंधित था जो कि एक राजनीतिक शक्ति के रूप में वर्तमान पंजाब के पूर्वी भाग एवं दिल्ली क्षेत्र के आसपास स्थित था।

5) चंद्रवर्मनः वह शायद चौथी शताब्दी सी ई में दक्षिण-पश्चिम बंगाल का शासक था। इस मत के अनुसार उसका राज्य पुष्करण (वर्तमान में पखन्न गाँव, बाँकुड़ा जिला, पश्चिम बंगाल) में था। अन्य मत यह कहता है कि यह वही चंद्रवर्मन है जिसका उल्लेख मंदसौर (मालवा क्षेत्र, मध्य प्रदेश) से मिले एक अभिलेख में मिला है।

अब हम इस स्तुति की रचना करने वाले हरिषेण के बारे में बात करते हैं। वह राजदरबार में एक उच्च कोटि का अधिकारी था यह अभिलेख में उल्लिखित पदवियों/उपाधियों से दिखाई पड़ता हैः

1) *कुमारमात्य* (उच्च अधिकारियों का पद)
2) *महादंडनायक* (एक महत्वपूर्ण न्यायिक या सैनिक अधिकारी)
3) *संधिविग्रहिक* (युद्ध एवं शांति का अधिकारी/मंत्री)

यह उत्कृष्ट रचना भी उसे एक कुशल लेखक के तौर पर दर्शाती है।

यह *प्रशस्ति* उसकी छः शताब्दियों पूर्व एक अशोक स्तंभ पर उत्कीर्ण की गई थी और कई शताब्दियों बाद प्रयागराज लाई गयी थी। आश्चर्यजनक रूप से इस पर विभिन्न कालों के अभिलेख उत्कीर्ण हैंः

1) प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अशोक का अभिलेख
2) *प्रयाग-प्रशस्ति*
3) फ़ारसी में मुगल सम्राट जहाँगीर का अभिलेख जो उसके वंश की झलक प्रस्तुत करता है

ये अभिलेख तीन अलग-अलग भाषाओं में हैं और तीन अलग सहस्राब्दियों से संबंधित हैं। स्तंभ की सतह पर कुछ अन्य, संक्षिप्त, विविध एवं कुछ कम महत्व वाले अभिलेख भी मिलते हैं। समुद्रगुप्त की *प्रशस्ति* के लिए अशोक स्तंभ को चुनने के संबंध में थापर (2013: 341-42) स्पष्ट करती हैं और कुछ तर्कसंगत एवं विचारोत्प्रेरक प्रश्न उठाती हैं जो शायद इस पहेली का उत्तर दे सकें:

> इस स्तंभ पर समुद्रगुप्त की *प्रशस्ति* क्यों उत्कीर्ण की गई? यदि गुप्तकाल में अशोक की ब्राह्मी पढ़ी जा सकती थी, जो संभव है, तो इस गुप्त अभिलेख में सैन्य विजय की प्रशंसा का संदेश अशोक की हिंसा के विरोध का खंडन करता है। क्या यह अशोक को निम्नतर दर्शाने और समुद्रगुप्त को महानतर विजेता के रूप में दर्शाने का प्रयास था? लेकिन यह प्रयोजन व कार्य तो उसी तरह के एक अलग विशाल स्तंभ पर ज़्यादा प्रभावी हो सकता था। क्या अशोक के संदेश को एक बौद्ध प्रवचन के रूप में देखा गया था जिसे अधिलिखित करने की आवश्यकता थी? या इसके विपरीत यह मौर्य सम्राट की वैधता का आह्वान करने वाली ऐतिहासिक निरंतरता का प्रयास था? गुप्त काल में कुछ मौर्य रूपों का अनुकरण करने का प्रयास किया गया, विशेषकर स्तंभों के शीर्षों में। ऐतिहासिक निरंतरता के इस तरह के प्रयासों में प्रशस्तियों को अन्य पुराने शिलालेखों के साथ उत्कीर्ण होने के लिए प्रेरित किया ... भले ही अवचेतना में, लेकिन ये स्तंभ ऐतिहासिक स्मृति के रूप में शिलालेखों के महत्व को उजागर करते हैं ... स्तंभों को पहले के समय में विजय एवं प्रसिद्धि के प्रतीक के तौर पर *जयस्तंभों* और *कीर्तिस्तंभों* के रूप में संदर्भित किया जाता था, भले ही अशोक के मामले में उसने विजय के माध्यम से प्रसिद्धि को अस्वीकार कर दिया। समुद्रगुप्त का अभिलेख उसकी विजयों का दावा प्रस्तुत करता है लेकिन जहाँगीर का अभिलेख एक सम्मानीय वंश का दावा है.. यह उत्कीर्ण करने के लिए एक सुविधाजनक सतह खोजने का प्रश्न नहीं था बल्कि जान-बूझकर पूर्ववर्ती शासक या घटना से संबंध जोड़ने का विकल्प था। अभिलेख के स्थान का चुनाव काफ़ी सोच-विचार कर किया गया था। यह एक ऐतिहासिक परम्परा के महत्व को भी रेखांकित करता है ...

5.5.2 जूनागढ़ अभिलेख

जूनागढ़/गिरनार (गुजरात) शिलालेख से पता चलता है कि सुदर्शन झील नामक एक कृत्रिम जलाशय/तटबंध का निर्माण मौर्यों के अधीन प्रांतीय प्रशासक और चंद्रगुप्त मौर्य के बहनोई पुष्यगुप्त द्वारा किया गया था। यह अभिलेख सौराष्ट्र[8] के शक शासक रूद्रदामन को इस बाँध के गंभीर रूप से और बड़े पैमाने पर क्षतिग्रस्त होने के कारण उसके प्रांतीय प्रशासक सुविशाख (लगभग 150 सी ई) के द्वारा पूरी तरह से मरम्मत करने के लिए श्रेय देता है। इसमें रूद्रदामन द्वारा बड़ी धनराशि के निवेश का विशेष उल्लेख है। हालांकि 457 सी ई में यह फिर से भारी बारिश के कारण क्षतिग्रस्त हो गया और इस बार इसे पर्णदत्त (गुप्त वंश के सम्राट स्कंदगुप्त द्वारा सौराष्ट्र का नवनियुक्त प्रशासक) और पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा पुनर्स्थापित किया गया।

इस अभिलेख के संबंध में थापर (2013: 343) उचित अवलोकन करती हैं:

> ये 800 वर्षों तक फैले शिलालेखों के तीन समूह हैं लेकिन ये स्पष्ट रूप से एक ही बाँध के निर्माण और टूटने से जुड़े हुए हैं। प्रभावशाली बात यह है कि पिछली क्षतियों के बारे में उन्हें जानकारी थी और उन्हें दर्ज किया गया है। शिलालेखों के उत्कीर्णन में एक सुझाई गई निरंतरता है और ऐसा प्रतीत होता है कि पहले वाले अभिलेख तब भी पढ़े जा सकते थे। बाँध की पिछली मरम्मत के संदर्भ किवदंतियों या अफ़वाहों पर आधारित नहीं थे बल्कि जो कुछ अतीत में घटित हो चुका था उसकी दर्ज की गई सटीक जानकारी पर आधारित थे।

थापर (2002: 224) इस अभिलेख के संबंध में एक अन्य लेख में अतिरिक्त जानकारी प्रदान करती हैं:

> शिलालेख में रूद्रदामन की नर्मदा घाटी में विजय, सातवाहन राजा (नर्मदा के दक्षिण में) के विरुद्ध उसके अभियान और राजस्थान में यौधेय *गण-संघ* पर उसकी विजय का प्रशंसात्मक रूप में उल्लेख है।

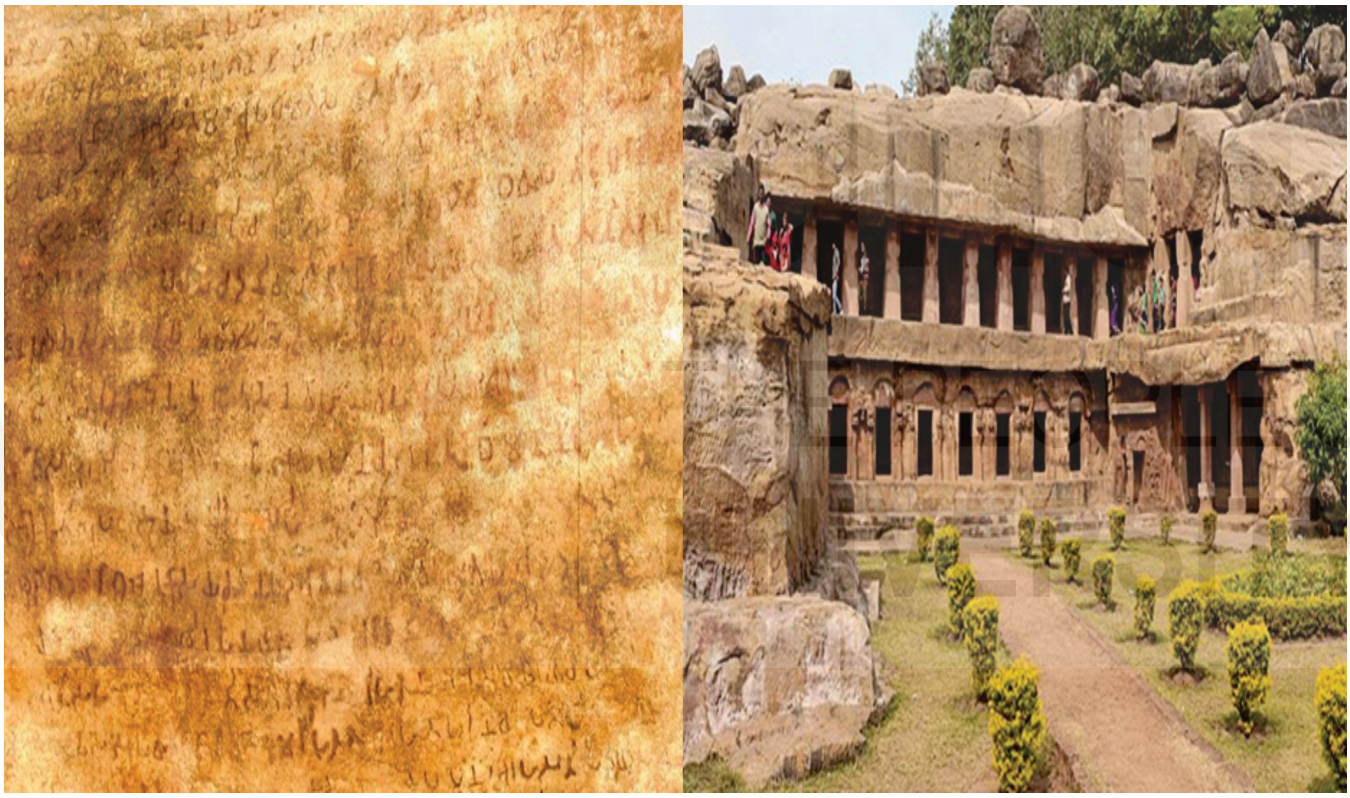
5.5.3 हाथीगुम्फा अभिलेख

प्रशस्तियों का एक और उत्कृष्ट उदाहरण चेदि राजा खारवेल की आत्मकथात्मक स्तुति है। खारवेल ने पहली शताब्दी बी सी ई के मध्य में ओडिशा के तटीय और पूर्वी हिस्से में शासन किया था। हाथीगुम्फा (शाब्दिक अर्थ 'हाथी गुफा') भुवनेश्वर के पास उदयगिरि पहाड़ियों में स्थित है। थापर (2013: 329-30) हमें जानकारी देती हैं:

[8] इसे सोरठ या काठियावाड़ भी कहा जाता है। यह गुजरात का एक प्रायद्वीपीय क्षेत्र है।

> यह वास्तव में उसके प्रारंभिक जीवन की उपलब्धियों का वर्ष दर वर्ष वृत्तांत है। अभिलेख के एक जैन केंद्र के निकट स्थित होने का कारण शायद यह था कि राजा जैन धर्म का अनुयायी था। खारवेल दक्कन क्षेत्र को लेकर सातवाहनों के संघर्ष के बारे में उल्लेख करता है। वह *यवन* राजा दिमित, जो शायद भारतीय-यूनानी शासक डेमेट्रियस (Demetrios) था, का उल्लेख करता है जिसकी मध्य भारत में उपस्थिति का ज़िक्र अन्य स्रोतों में किया गया है ... दूसरे संघर्षों में दक्षिण भारत के राज्यों एवं खारवेल के राज्य के निकट मध्य गंगा मैदान के राज्यों के विरुद्ध संघर्ष शामिल थे। वह जैन ग्रंथों के संकलन में रुचि लेता है जो कि निस्संदेहात्मक रूप से बौद्ध *मठों* में किए जा रहे ग्रंथों के संकलन का अनुकरण था और जिसने एक विशिष्ट ऐतिहासिक परंपरा को जन्म दिया। खारवेल द्वारा सभी दिशाओं से आने वाले साधुओं एवं भिक्षुओं की एक सभा बुलाने, अपने आपको अन्य उपाधियों जैसे *भिक्खु राजा, धम्म राजा* (भिक्षुओं और धर्म का राजा), आदि के तौर पर वर्णित करना और सभी संप्रदायों के प्रति अपने सम्मान – *सव पासम्द पूजको* – का उल्लेख करना अशोक मौर्य के कार्यों का अनुसरण करने के प्रयत्न को सुझाता है जिसे उसने अशोक के अभिलेखों और बौद्ध ग्रंथों से जाना होगा। उसके द्वारा ज़िक्र किए गए सभी स्थानों के नाम पहचाने जा चुके हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, यह जैन सम्प्रदाय को दिए गए संरक्षण एवं सभी धर्मों/विश्वासों के प्रति सम्मान को प्रकट करता है। इसमें यह भी कहा गया है कि *ब्राह्मणों* को भी करों से छूट दी गई थी और सिंचाई के उद्देश्य से तालाबों और नहरों के निर्माण का उल्लेख है। यह विशेष रूप से अपनी राजधानी तक एक नहर की खुदाई पर खारवेल द्वारा किए गए विशाल व्यय का उल्लेख करता है।



बाएँ: हाथीगुम्फा शिलालेख
श्रेय: अमितव
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Hatigumfa.jpg
दाएँ: उदयगिरि गुफा परिसर जहाँ हाथीगुम्फा अभिलेख स्थित है
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण स्मारक क्रमांक एन.ओ.आर.-62
श्रेय: बर्नार्ड गगनोन
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Udayagiri_Caves_-_Rani_Gumpha_01.jpg

5.5.4 हेलियोडोरस का अभिलेख

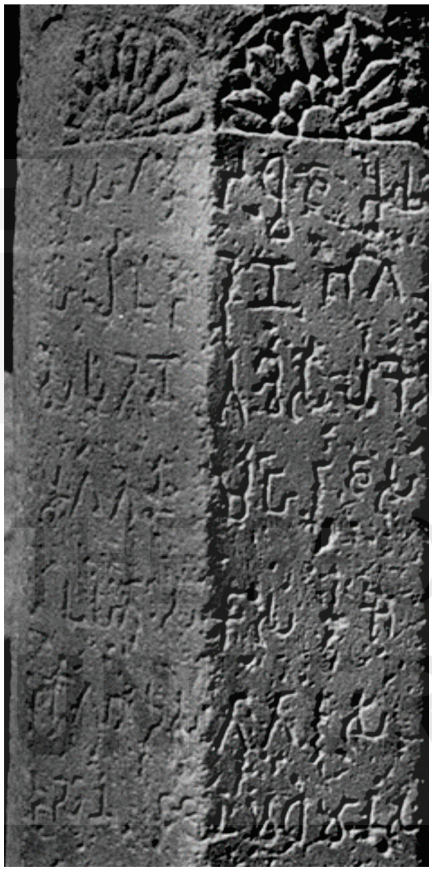
इस अभिलेख के स्तंभ को बेसनगर (विदिशा जिला, मध्य प्रदेश) में लगभग 113 बी सी ई में स्थापित किया गया था जिसे भारतीय-यूनानी (Indo-Greek) राजदूत हेलियोडोरस द्वारा बनवाया गया था जो कि हिन्दू धर्म स्वीकार करने वाले पहले उल्लिखित भारतीय-यूनानी लोगों में से एक थे। यह वैष्णववाद से संबंधित भारत में पहला ज्ञात शिलालेख है। थापर (2013: 335) इसे इस प्रकार स्पष्ट करती हैं:

प्राकृत के दानात्मक अभिलेख (*दान-शासन;* votive inscriptions) केवल बौद्ध स्थलों तक सीमित नहीं थे। अन्य अभिलेखों में ईसाई[9] युग के आरंभ होने से पहले विष्णु को समर्पित एक स्तंभ शिलालेख है। यह स्तंभ हेलियोडोरस के द्वारा स्थापित किया गया था ... जो उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला शहर का निवासी था। वह स्वयं को एक *योन/यवन* के रूप में वर्णित करता है। इस शब्द का उपयोग यूनानी और पश्चिमी एशियाई लोगों के लिए किया जाता है। वह *राजन* कासीपुत के दरबार में *महाराजा* अंतलिकिद/अंतिआल्किदस् का दूत है। यह स्तंभ उसके वासुदेव संप्रदाय के अनुयायी होने की उद्घोषणा है जो कि विष्णु की पूजाओं के कई रूपों में से एक है। यह ध्यान देने योग्य है कि वह अपने राजा को *महाराजा* के तौर पर संबोधित करता है जबकि स्थानीय भारतीय राजा केवल *राजन* है।

5.6 ऐतिहासिक परिवर्तन के चिह्नन के रूप में अभिलेखों की भाषा में परिवर्तन

अभिलेखों की भाषा एक इतिहासकार को अपने आप में एक ऐतिहासिक प्रक्षेपपथ का पता लगाने में मदद करती है। थापर (2013: 320.21) तर्क देती हैं:

> भाषा में परिवर्तन कोई अकेली घटना नहीं है बल्कि अन्य ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़ी है। कौन किस भाषा का उपयोग करता है और किन उद्देश्यों के लिए करता है यह अतीत के समाजों को समझने के लिए मूलभूत है क्योंकि एक भाषा का एक समान उपयोग नहीं होता था। यह आरंभिक भारतीय अभिलेखों में दिलचस्प रूप से परिलक्षित होता है। प्रारंभिक ईसाई युग तक वे केवल प्राकृत (व्यापक रूप से इस्तेमाल की जाने वाली एक विविधतापूर्ण पुरानी इंडो-आर्यन स्थानीय भाषा) में हैं, हालांकि संस्कृत का उपयोग साथ ही साथ अन्य उद्देश्यों के लिए किया जा रहा था जैसे कि वैदिक अनुष्ठानों में। बाद में, पहली सहस्राब्दि ए डी[10] के संक्रमणकाल में संस्कृत का प्रयोग अभिलेखों में किया जाने लगा और इसके साथ ही यह राजदरबार की भाषा बन गई, हालांकि प्राकृत आमतौर पर इस्तेमाल की जाने वाली भाषा बनी रही।



हेलियोडोरस का स्तंभ
श्रेय: पब्लिक-रिर्सोस-ओआरजी
स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Heliodorus_pillar_inscription.jpg

अशोक के अभिलेखों के बारे में थापर (2013: 324) स्पष्ट करती हैं:

> अभिलेखों का संवादात्मक स्वर संस्कृत में अनुपयुक्त रहा होगा क्योंकि श्रोता बड़े पैमाने पर प्राकृत भाषी रहे होंगे। राजा ने यह उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है कि उसके अधिकारियों को उसके अभिलेखों को पढ़ना होता था जहाँ कहीं भी लोग इकट्ठा होते थे और अशोक ने जो कहा था उसे सुनना चाहते थे। ऐसे भी क्षेत्र थे जहाँ लोगों के बीच साक्षरता अभिलेखों को पढ़ने के लिए पर्याप्त नहीं थी, हालांकि राज्य के अधिकारियों, बौद्ध भिक्षुओं, व्यापारियों और कुछ अन्य लोगों में प्राकृत में साक्षरता प्रामाणिक रूप से थी। बोलियों के बीच भिन्नता व्यापक रूप से बोली जाने वाली भाषा की ओर इशारा करती है। संभवतः पाटलिपुत्र की राजधानी में प्रचलित मागधी प्राकृत में लिखी गई होगी और स्थानीय लेखकों एवं उत्कीर्णकों ने स्थानीय बोली का उपयोग शुरू किया ... आर्माइक (Aramaic) में लिखे गए अशोक के अभिलेखों में प्राकृत के कुछ तत्व समावेशित हैं जो उस क्षेत्र में प्राकृत बोलने वालों की उपस्थिति दर्शाते हैं। अशोक का एक द्विभाषीय आर्माइक-यूनानी अभिलेख यूनानी भाषी जनसंख्या को दर्शाता है जिसकी पुष्टि प्राकृत में लिखे वृहद शिलालेखों के यूनानी में अनुवाद से होती है। इनसे यूनानी (Hellenistic) पश्चिमी एशिया में घटनाओं के लिए अभिलेखीय परस्पर संदर्भ स्थापित किया जा सकता था। एक अभिलेख के पाँच यूनानी राजाओं के उल्लेख से उनके बारे में जानकारी और भी सुदृढ़ हो गई जो अशोक के समकालीन थे ... जिस प्रकार की यूनानी भाषा का इस्तेमाल किया गया था वह यूनानी दुनिया के मध्य लोक-भाषा थी जिसमें क्षेत्रीय भिन्नताएँ थीं और इसलिए यह भारत में प्राकृत के उपयोग के समानांतर है। भाषाओं में इस्तेमाल होने वाले भिन्न प्रतिरूप ऐतिहासिक कथन बन जाते हैं।

---

[9] अब हम 'ईसाई युग' (Christian Era) की जगह 'सामान्य युग' (Common Era) का इस्तेमाल करते हैं। यह इस एकमत धारणा पर आधारित है कि इस युग के दौरान घटनाएँ और विकास केवल ईसाई दुनिया में सीमित नहीं थे बल्कि पूरी दुनिया में हो रहे थे।

[10] अब हम 'एन्नो डोमिनी' (AD) के स्थान पर 'कॉमन एरा' (CE) का प्रयोग करते हैं।

थापर (2013: 325) आगे हमें जानकारी देती हैं:

> पाँच यूनानी राजाओं के नामों का उल्लेख है: [... जिस क्षेत्र में योन राजा एंटिओकस शासन करता था और एंटिओकस के क्षेत्र के आगे चार राजा टॉलेमी, एंटिगोकस, मगस/मागस और अलेक्ज़ेंडर ...]।
>
> *योन* राजाओं का यह संदर्भ प्राचीन भारतीय कालक्रम के आधार पर गया है क्योंकि अशोक के समकालीन के रूप में इन राजाओं की तिथियाँ दृढ़ रूप से स्थापित हैं। इस साक्ष्य की निश्चितता सैंड्रोकोटस की चंद्रगुप्त से तुलना की जगह लेती है जिसे विलियम जोन्स द्वारा सुझाया गया था। कालक्रम का आधार अभिलेखीय साक्ष्य से प्राप्त होता है जिसने ऐतिहासिक पुनर्निर्माण को एक मज़बूत आधार प्रदान किया।



कलसी/खालसी (देरहादून जिला, उत्तराखंड) से प्राप्त यूनानी राजाओं के नामों के साथ अशोक का अभिलेख

श्रेय: अलेक्जेंडर कनिंघम, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, संस्करण 1, गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस, शिमला, 1871, पृ. 247

स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स; https://commons.wikimedia.org/wiki/File: Khalsi_ rock_ edict_ of_Ashoka_with_names_of_the_Greek_kings.jpg

बाद में कुषाण अभिलेख और सिक्के विभिन्न भाषाओं और लिपियों के मिश्रण और सहअस्तित्व का संकेत देते हैं। हालांकि, पहली सहस्राब्दि सी ई के मध्य से संस्कृत ने राजदरबार और प्रशासन की स्थापित भाषा का दर्जा हासिल कर लिया था। संस्कृत में अभिलेखों को लिखने एवं तैयार करने की दिशा में प्रकृति उभर रही थी जिसे थापर (2002: 224) 'ऐतिहासिक परिवर्तन की भावना को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने' के रूप में परिभाषित करती हैं। शर्मा (2018 [2005]: 192) जूनागढ़ अभिलेख की ओर इशारा करते हुए हमें ध्यान दिलाते हैं:

> रुद्रदामन का संस्कृत के प्रति विशिष्ट लगाव था। यद्यपि उसके पूर्वज मध्य एशियाई थे, उसने विशुद्ध संस्कृत में प्रथम विस्तृत अभिलेख जारी किया। इसके पूर्व में भारत में सभी अभिलेख प्राकृत में लिखे गए थे जिसे अशोक के द्वारा राजभाषा बना दिया गया था।

शर्मा (2018 [2005]: 199) हमें आगे जानकारी देते हैं:

> जूनागढ़ अभिलेख में *काव्य* शैली का सर्वप्रथम नमूना मिलता है ... इसके बाद, अभिलेख विशुद्ध संस्कृत में लिखे जाने लगे, यद्यपि अभिलेखों में प्राकृत का इस्तेमाल चौथी शताब्दी और इसके बाद भी जारी रहा।

अभिलेखों की उभरती हुई भाषा के रूप में जूनागढ़ अभिलेख से आरंभ हुए संस्कृत की ओर बदलाव के बारे में थापर (2002: 224) कुछ प्रासंगिक प्रश्नों को स्पष्ट करती हैं और उठाती हैं:

> भाषा आम तौर पर इस्तेमाल की जाने वाली संस्कृत भाषा है जिसे पाणिनि ने व्याकरण का आधार बनाया था। हो सकता है कि उसने संस्कृत को वर्तमान अभिलेखों में इस्तेमाल की गई प्राकृतों के स्थान पर वरीयता देना स्वयं को रूढ़िवादियों की परंपराओं द्वारा समर्थित दर्शाने के लिए चुना हो, भले ही वे ऐसे शासकों को निम्न स्थिति वाले क्षत्रियों के रूप में वर्गीकृत कर रहे हों। क्या रुद्रदामन जानबूझकर स्वयं को ब्राह्मणवाद से जोड़ रहा था ...? यह केवल एक धर्म के प्रति संरक्षण का कार्य नहीं था बल्कि एक विचारधारा के साथ संबंधित होना भी था। यह एक विडंबना है कि अभिलेखों में संस्कृत के प्रयोग का आरंभ किसी ऐसे व्यक्ति से हुआ है जिसके *वर्ण* की स्थिति पर प्रश्न उठाया जा सकता था। क्या वह शासक के रूप में अपनी वैधता स्थापित करने में रूढ़िवादियों का समर्थन हासिल करने का प्रयास कर रहा था? या वह एक भाषा के प्रति समानांतर संरक्षण प्रतिबिंबित कर रहा था जो कि धीरे-धीरे राजदरबारों में प्रमुखता हासिल कर रही थी? उसकी विजयों की सूची देने के अतिरिक्त, जैसा कि इन अभिलेखों में आम है, उसे साहित्य के प्रति एक संवेदनशील व्यक्ति के रूप में वर्णित किया गया है जो अब समय के सांस्कृतिक परिदृश्य के अनुसार संस्कृत का बड़े अच्छे तरीके से उपयोग करने में सक्षम था। यह प्रशंसात्मक स्तुतियों में राजाओं के साथ जुड़ी एक नियमित उपलब्धि बन गई और शीघ्रता से लोकप्रिय हो गई और इसी प्रकार संस्कृत के अभिलेख भी लोकप्रिय रूप से जारी किए जाने लगे।

गुप्त काल के दौरान संस्कृत में प्रभावशाली ढंग से उन्नति हुई। वह परिष्कृत हो गई और साहित्यिक गतिविधियों में बड़ी तेजी आई। इस युग में संस्कृत साहित्य में उच्च मानक स्थापित किए गए, विशेषकर, सर्वोत्तम संस्कृत लेखक कालिदास, जो चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के राजदरबार के *नवरत्नों* में से एक थे, की रचनाएँ – जैसे *अभिज्ञान शाकुंतलम, मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोवर्शीयम, रघुवंशम, कुमार संभवम, मेघदूतम,* आदि। यह मानक गुप्त अभिलेखों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। सभी की रचना संस्कृत में की गई है। प्राकृत अब हीन मानी जाने लगी थी और इस भाषा की यह हीन स्थिति दिलचस्प रूप से उस समय की नाटक रचनाओं में दर्शायी गई है जिनमें उच्च जाति के लोग संस्कृत बोलते थे, जबकि स्त्रियाँ और निम्न जाति के लोग प्राकृत। संस्कृत का बड़े पैमाने पर उपयोग गुप्त शासकों की राजनीतिक शक्ति एवं अधिकार का प्रतीक बन गया था और राजत्व को वैधता प्रदान करने का एक प्रभावी एवं कुशल साधन भी बन गया।

जब 19वीं शताब्दी के अंत में कई प्रारंभिक भारतीय अभिलेखों की खोज की गई और उनका अध्ययन किया गया तो विशेषज्ञ सुस्पष्ट विविधताओं को देख एवं पहचान सकते थे। अभिलेखों की भाषा में परिवर्तन के कालक्रम का निर्माण किया जा सकता है क्योंकि इनमें से कई अभिलेखों की तिथि सटीक रूप से अंकित थी। समुद्रगुप्त की *प्रयाग-प्रशस्ति* जैसे कई अभिलेखों में शासक/राजा का उल्लेख होता था जिससे राजवंशीय इतिहास को समझना संभव हुआ। उत्तर-गुप्त काल से इस तरह के अभिलेखों में उल्लेखनीय वृद्धि साहित्यिक स्रोतों की कमी की भरपाई करने में सक्षम रही है। ये अब तेज़ी से राजकीय घोषणाओं और शक्ति के प्रतीक के रूप में देखे जाने लगे, जैसा कि एक पूर्वकालिक अभिलेख के स्थल को जानबूझ कर चुनने में प्रदर्शित होता है। इसे थापर (2013: 321) कहती हैं, 'जानबूझकर अतीत से संबंध स्थापित करना और वर्तमान को वैधता प्रदान करने के लिए उपयोग करना'।

बोध प्रश्न 2

1) समुद्रगुप्त का महिमामंडन *प्रयाग-प्रशस्ति* में किस प्रकार किया गया है?

.....

.....

.....

.....

2) अभिलेखों की भाषा में परिवर्तन किस प्रकार ऐतिहासिक परिवर्तन की गवाही देता है?

.....

.....

.....

5.7 सारांश

आपने अभिलेखों के नज़रिए से इस इकाई का अध्ययन किया जो प्राचीन भारतीयों में विद्यमान एक ऐतिहासिक जागरूकता को प्रदर्शित करते हैं। यदि कोई ऐतिहासिक चेतना नहीं थी और एक महत्वपूर्ण घटना, एक राजकीय आदेश, एक दान, एक सम्राट की उपलब्धियों, राजवंशीय उत्तराधिकार और कालक्रम, आदि को दर्ज करने की कोई प्रवृत्ति नहीं थी, जैसा कि हमने इस इकाई में देखा, तो फिर ऐसा क्यों है कि हमें पुरातात्विक साक्ष्य के रूप में पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में शिलालेख मिलते हैं? हम आसानी से समझ सकते हैं, अनुमान लगा सकते हैं और दावा कर सकते हैं कि अभिलेख इतिहास लेखन के विभिन्न तरीकों या 'परंपराओं' में से एक रहे हैं क्योंकि वे अतीत का उल्लेख करते हैं। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में 'अतीत को उत्कीर्ण करने' की व्यापक घटना इतिहास की गहन समझ प्रदान करने, अतीत की ओर देखने और इतिहास लेखन करने के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गए हैं क्योंकि भारतीय इतिहास का एक बड़ा एवं महत्वपूर्ण भाग इन्हीं स्रोतों से आता है। उदाहरण के लिए, दानात्मक (votive) अभिलेखों के विषय में उस समय के लोगों को नेक, सदाचारी, पवित्र और सराहनीय कार्यों को दर्ज करने की महसूस हुई आवश्यकता। यह एक ऐतिहासिक अवधारणा को रेखांकित करता है। इसलिए अभिलेखों का अधिक ऐतिहासिक महत्व माना गया है। उत्कीर्णकों ने भी वर्तमान को अतीत से जोड़ने का सावधानीपूर्वक विचार कर जानबूझकर पूर्वकालिक अभिलेखों की सतहों को चुना जिसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं समुद्रगुप्त की *प्रयाग-प्रशस्ति* एवं जूनागढ़ का अभिलेख। और हमने थापर की ऐतिहासिक निरंतरता के तर्क एवं बड़े पैमाने पर वर्तमान द्वारा अतीत को अपनाकर वैधता प्रदान करने के विचार का भी परीक्षण किया। ये ऐतिहासिक स्रोत ऐतिहासिक परिवर्तन का भी संकेत देते हैं जैसा कि हमने इनकी भाषा के विकास एवं बदलाव के विषय में देखा।

5.8 शब्दावली

आर्यावर्त — यह शब्दावली प्रमुख सांस्कृतिक समुदाय – आर्यों – से आई है जिस स्थान पर उन्होंने कदम रखा या बस गए। प्राचीन भारतीय लेखन में उल्लिखित यह एक भौगोलिक क्षेत्र है जिसमें गंगा का मैदान और उसके सीमावर्ती क्षेत्र शामिल थे। हालांकि कभी-कभी यह भारतीय महाद्वीप के संपूर्ण उत्तरी भाग को सूचित करता है। कुछ इतिहासकार इसे और भी बड़े क्षेत्र के तौर पर देखते हैं जिसमें उत्तरी और मध्य भारत शामिल हैं जो पश्चिमी समुद्री तट से पूर्वी तट तक फैला हुआ था

धम्म — *धम्म* पाली भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ 'धर्म' है। यह एक सैद्धांतिक व्यवस्था थी जिसके बारे में कई लोग मानते हैं कि यह कलिंग युद्ध के बाद अशोक के हृदय परिवर्तन के पश्चात् उसके द्वारा आरंभ, उपदेशित एवं प्रचारित किया गया सिद्धांतों का समूह या सामाजिक दर्शन था। यह अपने आप में एक विचारधारा थी जो बौद्ध धर्म से काफ़ी हद तक प्रभावित थी और बौद्ध धर्म पर आधारित थी

***पुराण/पुराण* साहित्य** — गुप्त और उत्तर-गुप्त कालीन हिंदू ग्रंथों का समूह जिसका रचयिता व्यास को माना गया है। 18 *महापुराण* और अनेक *उपपुराण* (*पुराणों* के पूरक या परिशिष्ट) हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से ये विविधतापूर्ण विश्वकोषीय रचनाएँ हैं जिन्हें कई लोगों ने लिखा है और इनमें अनेक विषय शामिल हैं। उदाहरण के लिए, *अग्नि पुराण* (8वीं-11वीं शताब्दी सी ई) में कई विषय जैसे अनुष्ठान पूजा, ज्योतिष और ब्रह्मांड विज्ञान, राजवंशों की वंशावली, कानून, राजनीति, शिक्षा प्रणाली, वास्तुकला

शैली एवं प्रतिमा विज्ञान, कर प्रणाली, सेना का संगठन एवं युद्ध, युद्ध के सिद्धांत और कारण, युद्ध कला, कूटनीति, सार्वजनिक योजनाओं का निर्माण, जल वितरण के तरीके, पौधे एवं पेड़, औषधि, रत्न विज्ञान, व्याकरण, छंद, काव्य, कृषि एवं खाद्य, भूगोल, मिथिला (बिहार) जैसे तीर्थयात्रा स्थलों का मार्गदर्शन, इत्यादि शामिल हैं

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 5.3

2) देखें भाग 5.4

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 5.5.1

2) देखें भाग 5.6

5.10 संदर्भ ग्रंथ

मजूमदार, आर. सी. व पुसलकर, ए. डी., (1996) 'सोर्सेस ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री',*द वैदिक ऐज* (मुम्बईः भारतीय विद्या भवन).

शर्मा, आर. एस., (2018 [2005]) *इंडियाज़ एंशिएन्ट पास्ट* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

सिंह, उपिंदर, (2008) *ए हिस्ट्री ऑफ़ एंशिएन्ट एंड अर्ली मिडिवल इंडियाः फ्रॉम द स्टोन एज टू द ट्वेल्थ सेंचुरी* (नई दिल्लीः पियर्सन लौंगमैन).

थापर, रोमिला, (2002) *अर्ली इंडियाः फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए डी 1300* (नई दिल्लीः पेंग्विन).

थापर, रोमिला, (2013) 'अर्ली इन्सक्रिप्शन्स एज़ हिस्टौरिक्ल स्टेटमेंट्स', *द पास्ट बिफ़ोर असः हिस्टौरिकल ट्रेडिशंस ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इंडिया* (नई दिल्लीः परमानेंट ब्लैक).

5.11 शैक्षणिक वीडियो

टाइप्स ऑफ़ इंस्क्रिप्शंस
https://www.youtube.com/watch?v=fS3t12YbcFA

इंस्क्रिप्शंस ऐज़ अ सोर्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री
https://www.youtube.com/watch?v=l59qNlogB6Q

ऐपिग्राफ़ी, इंस्क्रिप्शंस एंड एंशिएंट स्क्रिप्ट्स
https://www.youtube.com/watch?v=YaAzOpAC_9o

इकाई 6 कल्हण*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.0 *राजतरंगिणी*

6.3 कल्हण की शैली

6.4 *राजतरंगिणी* की अंतर्वस्तु की रूपरेखा

6.5 इतिहासलेखन के रूप में मूल्यांकन

6.6 नवीन दृष्टिकोण

6.7 इतिहास के रूप में काव्य

6.8 नैतिक/नीतिपरक निर्देश के रूप में इतिहास

6.9 सारांश

6.10 शब्दावली

6.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.12 संदर्भ ग्रंथ

6.13 शैक्षणिक वीडियो

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम कल्हण तथा उसकी कालजयी कृति *राजतरंगिणी* पर चर्चा करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समर्थ होंगेः

- *राजतरंगिणी* को कलमबद्ध करने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा इसमें निहित मंतव्य को जानने में,
- कल्हण द्वारा *राजतरंगिणी* में अपनायी गई पद्धति को समझने में,
- इस ग्रंथ के इतिहासलेखन संबंधी महत्व को समझने में,
- इतिहासकारों द्वारा *राजतरंगिणी* के अध्ययन हेतु अपनाए गए नए दृष्टिकोणें का परीक्षण करने में, और
- इतिहास लेखन की महत्वपूर्ण शैली के रूप में काव्य रचनाओं के महत्व का विश्लेषण करने में।

6.1 प्रस्तावना

1825 में बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य तथा कालिदास की *मेघदूत* तथा *विष्णु पुराण* जैसी संस्कृत रचनाओं के अनुवादक हेरोल्ड हेमैन विल्सन ने कल्हण की *राजतरंगिणी*, जिसे उसने '12वीं शताब्दी के कश्मीर का हिंदू इतिहास' कहा था, के कुछ भागों के अनुवाद का कार्य हाथ में लिया। *राजतरंगिणी* के विषय में विल्सन का यह सुप्रसिद्ध आकलन था कि 'यह अब तक खोजी गई एकमात्र संस्कृत रचना थी जिसे वास्तव में किसी तरह के इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है।' कल्हण की इस महान् कृति का इस विद्वान द्वारा किया गया यह विश्लेषण अब भी स्वीकृत माना जाता रहा है तथा अगले 200 वर्षों तक इस दावे को लगभग कोई चुनौती नहीं मिली।

*** डॉ. शोनालिका कौल, सैंटर फ़ॉर हिस्टॉरिकल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली। यह इकाई लेखक के निम्नलिखित शोधकार्यों पर आधारित हैः *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली कश्मीरः लैंडस्केप एंड आइडैंटिटी इन द राजतरंगिणी*, 2018 (दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस); "'सीइंग" द पास्टः टैक्स्ट एंड क्वैश्चन ऑफ़ हिस्ट्री इन द "*राजतरंगिणी* "', *हिस्ट्री एंड थ्योरी*, 53: 2, मई 2014, पृ. 194-211; एवं 'हिस्टॉरिकल मैथड्स', पंकज जैन व अन्य द्वारा संपादित *एंसाक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन रिलीजन्स, हिंदुइज़्म एंड ट्राइबल रिलीजन्स*, 2018 (न्यूयॉर्कः स्प्रिंगर)**

ध्यानपूर्वक पढ़ने पर, यद्यपि, इस ग्रंथ के ऐतिहासिक गुणों की यह प्रशंसा वस्तुतः अन्य भारतीय साहित्यिक संस्कृति तथा सभ्यता में इतिहास की अनुपस्थिति का आक्षेप था। इसके कुछ वर्ष पूर्व ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकार जेम्स मिल ने अपनी कुख्यात पुस्तक *द हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* (1817) में 'पिछड़ी' भारतीय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं के विरुद्ध अपनी समकक्ष यूनानी-रोमन तथा यहूदी-ईसाई परम्पराओं, जो अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं के लिए विख्यात थीं, के मानकों के बराबर न होने के लिए निंदात्मक रवैया अपनाया था। इसका परिणाम भारतीय अतीत के देशज भारतीय आख्यानों तथा इनके संबंध में विद्यमान रहे दृष्टिकोणें को निम्नतर और अनुपयुक्त मानने में निकला।

मिल तथा विल्सन जैसे विद्वानों की इन टिप्पणियों को उस समय उभर रही इस मिथ्या-अवधारणा तथा दुष्प्रचार को स्पष्ट करने तथा इसका आधार बनाने वाले तत्वों, दोनों, के रूप में समझा जा सकता है कि भारतीय सभ्यता, विशेषकर संस्कृत परम्पराओं, में ऐतिहासिक बोध या चेतना की कमी थीः एक भ्रांतिपूर्ण विचार जो तब से मान्य बना रहा है। ऐसा माना गया कि यह 'कमी' उन अन्य रूढ़छवियों के कारण थीं जो 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के स्थापित होने के बाद भारत के बारे में गढ़ी जा रही थीं, जैसे एक ओर तो भारतीयों का भौतिक के बजाय आध्यात्मिक रुचियों की ओर अधिक झुकाव तथा दूसरी ओर भारतीय समाज का स्वयं में परिवर्तनहीन और गतिहीन होना। इनको संयुक्त रूप से भारत में नज़र आने वाले ऐतिहासिक साहित्य के नितांत अभाव के लिए उत्तरदायी माना गया, विशेष रूप से भारत में रचित धर्मग्रंथों, मिथक-शास्त्रों तथा सौंदर्यबोध-संबंधी कृतियों की प्रचुरता की तुलना में।

इस अंतर्निहित पक्षपात के विपरीत नवीन शोधकार्यों (थापर 2014; कौल 2018 क, ख) ने न केवल यह दिखाया है कि प्राचीन भारतीय विद्वानजन इतिहास के लेखन से सुपरिचित थे बल्कि प्राचीन भारतीय समाजों के संबंध में उपलब्ध ऐसे विभिन्न साक्ष्यों को अपने लेखन-कार्य में सूचीबद्ध किया है जो समय तथा समय को अंकित किए जाने के संबंध में और घटनाओं को भविष्य की पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने व इतिहासबद्ध करने हेतु एक विशेष रुझान को प्रदर्शित करते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने उस वस्तुवादी/प्रत्यक्षवादी (positivist) यूरोप-केंद्रित आधार पर भी सवाल खड़े किए हैं जिस पर इतिहास के आधुनिक विषय ने अतीत का वर्णन करने वाले पारम्परिक भारतीय तरीकों, जैसे मिथकीय और उपदेशात्मक आख्यानों, को खारिज किया है। इसके विपरीत इनका विचार है कि प्रारंभिक भारतीय ऐतिहासिक परंपराओं का विस्तार विभिन्न स्वरूपों में थाः सार्वजनिक अभिलेखों में उत्कीर्ण तथा संरक्षित अत्यधिक सटीक और तथ्यात्मक जानकारी से लेकर आचारशास्त्रीय/शिक्षाप्रद/उपदेशात्मक साहित्य तक। यह सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता की प्रयोगशाला तथा उचित धर्म निभाने के आह्वान के रूप में मानव इतिहास का साहित्यिक निरूपण था (कौल 2018)। इसी पृष्ठभूमि के आलोक में प्रारंभिक भारतीय इतिहास लेखन की इन दो प्रवृत्तियों के उदाहरण के रूप में कल्हण के 12वीं शताब्दी के इस महान् ग्रंथ की इस इकाई में चर्चा की गई है।

6.2 *राजतरंगिणी*

राजतरंगिणी (शब्दशः *राजाओं की नदी*) शास्त्रीय (classical) संस्कृत भाषा में 1148-50 सी ई में लिखा गया *महाकाव्य/प्रबंध* है। इसकी रचना कश्मीरी पंडित कल्हण द्वारा की गई थी। ऐसा कहा जाता है कि वह कश्मीरी राजा हर्ष (लगभग 1089-1101 सी ई) के दरबार में चंपक नाम के एक भूतपूर्व मंत्री का पुत्र था, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि कल्हण स्वयं कभी किसी राजा की सेवा में नहीं रहा था।

आठ हज़ार श्लोकों, जो असमान रूप से आठ पुस्तकों या खंडों में बँटे हुए हैं, में विस्तृत *राजतरंगिणी* उन राजवंशों का विवरण है जिन्होंने कश्मीर में कवि द्वारा वर्णित एक कल्पनात्मक शुरुआत से लेकर कवि के काल तक शासन किया था। दूसरे शब्दों में, यह कृति कश्मीर घाटी के प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन इतिहास के लगभग 2000 वर्षों का विवरण देती है।

6.3 कल्हण की शैली

कल्हण की *राजतरंगिणी* की उत्कृष्ट विशेषताओं में से एक है इसका स्वयं पर प्रकाश डालना एवं आत्मचिंतनशील होना। इसकी शुरुआत प्रस्तावना से होती है जो स्पष्ट रूप से अपना प्रयोजन, अपनी

शैली और इतिहास के अपने दर्शन और नज़रिए को सामने रखती है। प्रथमतः यह हमें बताती है कि निश्चित रूप से यह कश्मीरी इतिहास पर लिखी जाने वाली पहली कृति नहीं है। वास्तव में, *राजतरंगिणी* उससे पूर्व लिखी गई ऐसी ही कम से कम 11 संस्कृत रचनाओं की मंत्रणा तथा उनके संशोधन पर आधारित थी। यद्यपि इन पुराने ग्रंथों में से केवल एक (*नीलमत पुराण*, आठवीं शताब्दी सी ई) ही अब उपलब्ध है तथा केवल एक अन्य लेखक क्षेमेंद्र (11वीं शताब्दी सी ई) ही ऐतिहासिक रूप से सुज्ञात है। इससे यह संकेत मिलता है कि इतिहास लेखन की एक स्थापित पूर्व-आधुनिक और दीर्घ परम्परा रही है।

इसके अतिरिक्त अपनी अंतर्वस्तु तथा संदेश को आकार देने हेतु *राजतरंगिणी* ने व्यापक रूप से अन्य अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य जैसे *शास्त्र* (राज्य-नीति तथा विधि-संबंधी निर्देशात्मक *प्रबंध* साहित्य), *नीति* (राजनीतिक तथा नैतिक दृष्टांत) तथा *इतिहास* (अतीत-संबंधी विवरण) और पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजाओं के नामों की कालानुक्रमिक सूची को अभिलिखित करने वाली *वंशावली* परम्परा से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। वास्तव में, *राजतरंगिणी* को इन विभिन्न शैलियों और *काव्य* (उच्च सौंदर्यबोध से सम्पन्न गद्य तथा पद्य) के बीच विचरण करते हुए देखा जा सकता है जो इसे एक जटिल ग्रंथ बनाता है। इस सबसे इस कश्मीरी महाकाव्य में सुदृढ़ अंतर्ग्रंथात्मक संबंधों के क्रियाशील होने का संकेत मिलता है जो संस्कृत की कई साहित्यिक तथा दार्शनिक परम्पराओं को साथ में लाने का आभास देता है, न कि उनसे दूर जाने का या उनके बीच अपवाद होने का। *राजतरंगिणी* के संबंध में विद्वानों की प्रमुख विद्धता व मंतव्य, जो विवादास्पद ढंग से सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के बीच इसे एक अनूठा ग्रंथ मानते हैं, को ध्यान में रखते हुए यह बिंदु अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस पर आगे आने वाले ऐतिहासिक मूल्यांकन वाले खंड में और अधिक चर्चा की गई है।

अन्य दिलचस्प पहलू यह है कि कवि कल्हण शिलालेखों और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण लेखों (***शासन***) की सहायता लेने का दावा करता है जिनमें राजकीय भूमि-अनुदानों को दर्ज किया गया था और जो पुरातन समय से सुरक्षित बचे हुए थे। यह स्रोत-सामग्री का दिलचस्प पुनरांकन है जो ऐसे ग्रंथ की रचना में प्रयुक्त हुई सामग्री की झलक प्रदान करता है जिसे आज स्वयं इतिहास की स्रोत-सामग्री के रूप में देखा जाता है। कल्हण ने इन अभिलेखों का उपयोग राजाओं, रानियों, मंत्रियों तथा सेनापतियों द्वारा विभिन्न मतों, जैसे बौद्ध, शैव, वैष्णव तथा सौर (सूर्योपासना), से संबंध रखने वाले धार्मिक संस्थानों को दिए गए दानों एवं उपहारों को लेखबद्ध करने के लिए किया है।

इतिहास लेखन के दर्शन के संबंध में कल्हण कहता है कि 'मोह तथा विमोह, दोनों, का त्याग करते हुए अतीत का वर्णन करने में कवि की वाणी अविचलित रहनी चाहिए' (*राजतरंगिणी* 1.7)। आधुनिक विद्वानों ने इसे निष्पक्षता या वस्तुनिष्ठता को एक इतिहासकार के गुण के रूप में पहचानने वाले कथन के रूप में पढ़ा है। बहरहाल, यह ध्यातव्य है कि कल्हण इसे काव्यात्मक सद्गुण के रूप में पेश करता है। यह संतुलन (*वैराग्य*, जिसे कविता में शांत रस या निर्विकार सौंदर्य के तौर पर रेखांकित किया गया है) की अवस्था का संकेत करता है जिसकी उस समय के संस्कृत काव्य सिद्धांत (*अलंकारशास्त्र*) विशेष प्रकार की कविता रचने वाले कवियों के उपयोग हेतु अनुशंसा करते थे।

6.4 *राजतरंगिणी* की अंतर्वस्तु की रूपरेखा

महत्वपूर्ण है कि कश्मीर पर शासन करने वाले प्रत्येक वंश के प्रत्येक राजा या रानी के राज्यारोहण और शासनकाल के अंत की तिथि निर्धारित करने के लिए परंपरागत भारतीय पंचांगों या संवतों, जैसे ***कलियुग*** और ***शक संवत***, का उपयोग करते हुए कल्हण इस क्षेत्र के लिए निरंतरता लिए हुए एक कालानुक्रम पेश करता है। इन वंशों में गोनंदिया (Gonandiyas) (5वीं-6वीं शताब्दी), कार्कोट (7वीं-9वीं शताब्दी), उत्पल (9वीं शताब्दी सी ई) और लोहार (10वीं-12वीं शताब्दी सी ई) शामिल हैं। कश्मीर के कुछ महत्वपूर्ण शासक जिनके विषय में हम *राजतरंगिणी* के कारण जानते हैं उनमें मौर्य सम्राट अशोक (चौथी शताब्दी बी सी ई) जो एक ऐसे साम्राज्य का सम्राट था जिसका विस्तार लगभग सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में था, कुषाण राजा कनिष्क (दूसरी शताब्दी सी ई) तथा हूण राजा तोरमाण और मिहिरकुल (छठी शताब्दी सी ई) शामिल हैं जिनमें से सभी ने पराक्षेत्रीय भारतीय राज्यों पर शासन किया था और कश्मीर को उनमें एकीकृत किया था। घाटी में पाए जाने वाले स्वर्ण, रजत तथा मिश्रित सिक्कों के संग्रह इन शासकों की कश्मीर में उपस्थिति की पुष्टि करते हैं।

राजतरंगिणी कुछ क्षेत्रीय किंतु शक्तिशाली कश्मीरी राजाओं के विषय में भी जानकारी देती है जिनमें ललितादित्य मुक्तपीड (8वीं शताब्दी सी ई) प्रमुख था जिसके बारे में कहा गया है कि उसने अपार विजयों और अभियानों को संचालित किया जिनका विस्तार एक ओर पूर्वी भारत तक और दूसरी ओर मध्य तथा पश्चिमी एशिया (सिंकियांग/शिंजियांग, ईरान) तक था। हम राजा अवंतिवर्मन (9वीं शताब्दी सी ई) के विषय में भी सुनते हैं जो घाटी में बाढ़ को नियंत्रित करने के उपाय करने हेतु विख्यात है और प्राचीन विश्व की कुछ शक्तिशाली महिला शासकों में से एक रानी दिद्दा (10वीं शताब्दी सी ई) का उल्लेख भी मिलता है।

कल्हण इन शासकों के समय में होने वाली कई प्रमुख घटनाओं और बाद के शासकों तथा दरबारियों की नीतियों, कृत्यों तथा संघर्षों का वर्णन करता है। वह न केवल इनका विवरण देता है बल्कि इनके सामान्य तथा व्यक्तिगत कारणों को समझने का प्रयास भी करता है और इनके लिए कई प्रकार की सम्भव ऐतिहासिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। ऐसा करते हुए, जैसा कि हम देखते हैं, कल्हण अपने मूल्यांकन के निष्पक्ष होने का दावा करता है।

किंतु वस्तुतः अपने निर्विकार होने के दावे के विपरीत कल्हण की शैली कश्मीर के राजाओं तथा रानियों के अच्छे या बुरे कृत्यों का वर्णन करते हुए उनसे उसके गहरे व्यक्तिगत जुड़ाव का संकेत करती है। हम ऐसा कह रहे हैं क्योंकि *राजतरंगिणी* अत्यधिक आलोचनात्मक कृति है और निरंतर उन घटनाओं के गुण-दोष का विवेचन करती है जिनका इसमें वर्णन है। यह सद्कर्मों के लिए प्रशंसा और गुणगान का स्वरूप लिए हुए है तो दुष्कर्मों के लिए निंदा और तिरस्कार का भी। निंदा को घृणित या अशिष्ट उपमानों के साथ भी अभिव्यक्त किया गया है जो संस्कृत काव्य में बहुत ही असामान्य तत्व है। सदाचरण का समर्थन करना स्पष्ट तौर पर *राजतरंगिणी* के ग्रंथीय तथा ऐतिहासिक मंतव्यों का निर्धारक हिस्सा था।

राजतरंगिणी केवल अभिजात्य वर्ग की ही कहानी नहीं है। इसने कश्मीर के लम्बे इतिहास में उत्तरोत्तर सिंहासनारूढ़ होने वाले न्यायशील और उदार राजाओं के साथ ही आततायी और शोषक राजाओं के अधीन प्रजा की परिस्थितियों पर भी गहन रूप से ध्यान केंद्रित किया है। वास्तव में इस रचना में जनकल्याण (*प्रजानुपालनम*) किसी राजा के शासन के मूल्यांकन की एक स्थायी और महत्वपूर्ण कसौटी रही है।

बोध प्रश्न-1

1) कश्मीर के इतिहास का वर्णन करने हेतु कल्हण द्वारा अपनायी गई शैलियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

2) *राजतरंगिणी* में प्रकट होने वाले कल्हण के समय से संबंधित तथा कालक्रम-संबंधी विचारों का परीक्षण कीजिए।

.....

.....

.....

3) क्या आप सहमत हैं कि *राजतरंगिणी* अत्यधिक आलोचनात्मक काव्य-कृति है? टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

6.5 इतिहासलेखन के रूप में मूल्यांकन

मुख्य रूप से तीन कारण थे, नामतः इस ग्रंथ द्वारा कालानुक्रम का रखा गया ध्यान, कार्य-कारण सिद्धांत (causation) और (कथित) वस्तुनिष्ठता, जिनके आधार पर यूरोपीय प्राच्यवादी इतिहासकारों,

जो 19वीं शताब्दी से इस ग्रंथ का अध्ययन कर रहे थे, ने *राजतरंगिणी* को प्राचीन भारत से संबंध रखने वाला इतिहास का एक समुचित पहला और एकमात्र ग्रंथ कहा। उनका विश्वास था कि 3000 वर्षों की संस्कृत साहित्यिक संस्कृति में *धर्मशास्त्रों* और मिथकों, जिन पर अन्यथा उन्होंने पूर्णतः इतिहास-बोध से रहित होने का आक्षेप लगाया था, में इसके गुथे होने के बावजूद यह बाद का ग्रंथ एक अनोखा अपवाद था। उन विद्वानों, जिन्होंने भारत में इतिहास की प्रथम कृति के रूप में *राजतरंगिणी* का चरित्रांकन किया था, में हेरोल्ड विल्सन (1825), जॉर्ज बुहलर तथा मार्कस ऑरेल स्टाइन (1892, 1900) शामिल हैं। उपर्युक्त में से अंतिम विद्वान ने *राजतरंगिणी* का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित करवाया तथा अंग्रेज़ी में इसका सम्पूर्ण अनुवाद किया जिसे आज तक पढ़ा जाता है।

इस ग्रंथ के अनूठेपन और ऐतिहासिक चरित्र का इनके द्वारा किए गए (त्रुटिपूर्ण) मूल्यांकन को 20वीं शताब्दी के दौरान आर्थर लेवेलिन बाशम (1961) जैसे भारतविदों तथा विभिन्न विचारधाराओं का अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासकारों, जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकार रमेश चंद्र मजूमदार (1961) तथा मार्क्सवादी इतिहासकार रोमिला थापर (1983), द्वारा अपनाया गया और प्रतिध्वनित हुआ। सम्भवतः पश्चिमी विषय-संबंधी मानकों के समकालीन साबित होने के संघर्ष में उन्होंने प्रशंसा-भरे ऐसे कथनों को व्यक्त किया, जैसा नीचे उद्धृत किया जा रहा है, जो *राजतरंगिणी* का अध्ययन और अध्यापन करने वाले इतिहासकारों की आने वाली कई पीढ़ियों के लिए धर्मवैधानिक (canonical) बन गए: 'किसी आधुनिक इतिहासकार को भी कल्हण को महान् इतिहासकारों की श्रेणी में रखने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए ... (उसके द्वारा) इतिहास के सच्चे आदर्श तथा वास्तविक पद्धति के उचित उपयोग के कारण' (मजूमदार 1961: 14-25)।

लेकिन, इस प्रकार इस ग्रंथ के अनुभववादी गुणों की प्रशंसा करने के फ़ेर में *राजतरंगिणी* के अध्ययन को समर्पित प्रभावशाली विद्वानों ने 150 सालों तक वस्तुतः उत्तर-प्रबोधन (post-Enlightenment) युग के रांके के प्रभाव से उभरे प्रत्यक्षवाद को 12वीं शताब्दी के एक परम्परागत संस्कृत महाकाव्य पर आरोपित किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने इस ग्रंथ के ऐसे पहलुओं, जो इतिहास कैसा होना चाहिए उनके इस विचार के अनुरूप सही नहीं बैठते थे, को अलग किया और 'असफलताओं' तथा 'त्रुटियों' के रूप में परे कर दिया। इसमें काव्य-अलंकारों के सभी पहलू शामिल हैं, जैसे मिथक, वग्मिता (rhetoric) और उपदेशपरायणता जो किसी काव्यात्मक विमर्श के आवश्यक तत्व हैं तथा *महाकाव्य* के रूप में स्वयं *राजतरंगिणी* की योजना में प्रमुख तत्व हैं।

उदाहरण के लिए, मार्कस ऑरेल स्टाइन (1900) का विचार था कि काव्य शैली में *राजतरंगिणी* के वाक्पटुता (rhetoric) और उपदेशात्मक भाग मुख्य कथानक से कटे हुए हैं जो इतिहासात्मक हैं। वहीं बुहलर ने दंतकथाओं और मिथकों का सहारा लेने से इस ग्रंथ के बड़े हिस्से के कालानुक्रम के अनुपयोगी हो जाने और इसके लेखक पर संदेह होने का संकेत किया है। इसका अनुसरण करते हुए रमेश चंद्र मजूमदार (1961: 22-24) ने कल्हण को एक महान् इतिहासकार की संज्ञा देने के बावजूद उसके द्वारा मिथकों व दंतकथाओं में राजाओं को समाहित करने में झलकने वाली उसकी 'अत्यधिक त्रुटिपूर्ण पद्धति', 'महाकाव्यों और *पुराणों* (अतीत का वर्णन करने वाली प्राचीन भारतीय शैलियाँ) पर उसकी 'अंध आस्था', जादू और चमत्कारों में उसके विश्वास, घटनाओं की व्याख्या 'किसी तार्किक कारण के बजाय' विधि के विधान के आधार पर करने, कर्म-संबंधी हिंदू विश्वास से प्रेरित सामान्य उपदेशात्मक प्रवृत्ति और 'काव्य और अलंकारों में दक्षता के प्रदर्शन-मात्र' की बात कही है। रोमिला थापर (1983) ने भी कल्हण की नैतिक शिक्षा और उपदेशपरायणता को खारिज किया।

इस प्रकार, इतिहास के रूप में स्वीकृत होने के लिए *राजतरंगिणी* को परंपरागत संस्कृत काव्य की छवि से दूर हटना था। यद्यपि पूरी तरह से पश्चिम के आधुनिक वस्तुनिष्ठ इतिहास के विचार से प्रेरित होने, न कि अतीत को देखने के किसी देशीय या प्राचीन दृष्टिकोण से, पर भी 'तथ्यात्मक' (सच्चे) इतिहास तथा कल्पनात्मक (भ्रमपूर्ण) साहित्य के बीच विरोध में अंतर्निहित विश्वास स्वयं 19वीं शताब्दी के यूरोप के लिए नया था और स्वयं अपने प्राचीन शास्त्रीय युग (केवल भारत की बात छोड़ भी दें तो) में प्रचलित पद्धति को नकारता था जहाँ इतिहास को उत्कृष्ट साहित्य का एक रूप माना जाता था और वह भी इसकी सत्यता के मूल्य के प्रति कोई पूर्वाग्रह की भावना रखे बिना। यूरोपीय इतिहास लेखन में आए रांकेवादी मोड़ ने विश्व-भर के

इतिहासकारों पर अपनी छाप छोड़ी, विशेष रूप से जेम्स मिल जैसे साम्राज्यवादियों के लेखन के माध्यम से, जिसने, जैसा कि इससे पूर्व हमने देखा है, बहुत पहले सन् 1817 में ही भारतीय साहित्यिक तथा ऐतिहासिक परंपरा के प्रति अरुचि प्रकट की थी। अतीत के देशीय-भारतीय आख्यानों को अवैध और निम्नतर ठहराने के लिए प्रत्यक्षवाद साम्राज्यवाद के साथ मिल गया था। विडम्बना है कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के बीच एक त्रुटिपूर्ण अपवाद के रूप में अलग किए जाने के दौरान इतिहास के रूप में *राजतरंगिणी* एक ऐसे बौद्धिक नज़रिए का सृजन और शिकार, दोनों, बन गई थी जो इस पारंपरिक संस्कृत ग्रंथ को समान रूप से स्वीकारना भी चाहता था और नज़रंदाज़ भी करना चाहता था।

6.6 नवीन दृष्टिकोण

पिछले दो दशकों में विचार की एक नई धारा ने कल्हण के महाकाव्य को उसकी स्वयं की साहित्यिक संस्कृति में स्थापित करने का प्रयास किया है और तदनंतर इतिहास की कृति के रूप में इसका निरुपण किया है। इस प्रक्रिया में इतिहास के विषय की अनुभववादी समझ से इसकी साहित्यिक गुणवत्ता और प्राक्-आधुनिक भारत के ग्रंथों और शैलियों से सामने आने वाली वैकल्पिक ऐतिहासिक पद्धतियों की ओर संक्रमण भी हुआ है।

इस प्रकार किसी विशेष काव्य शैली को ऐतिहासिकता के चिह्न के रूप में पहचानने को महत्व देते हुए संस्कृतविद् व्हिटनी कॉक्स (2013) ने यह तर्क दिया है कि *राजतरंगिणी* के बाद के खंडों में आने वाले 'समास-युक्त, कसावट लिए श्लोक इस विश्व में व्याप्त उत्थान और पतन की सहवर्ती अस्थिरता को प्रकट करने में सफल रहे हैं, स्वयं को पर्याप्त गहन और समृद्ध स्वरूप देते हुए ताकि इसका कुछ अंश तो अभिव्यक्त हो सके।' इससे संसार के औपचारिक अनुकरण (mimesis) का संकेत मिलता है। कल्हण द्वारा इतिहास के साथ किए गए व्यवहार का यही सारतत्व है।

सम्भवतः अधिक आग्रहपूर्ण ढंग से वाल्टर स्लेज (2008) तथा लॉरेंस मैकक्री (2013) *राजतरंगिणी* की प्रकृति तथा उद्देश्य का निर्धारण करने हेतु सामान्य विश्लेषण हेतु संस्कृत की परंपरागत भारतीय श्रेणियों, जैसे *रस-काव्य*, की ओर लौटे हैं। *रस* का तात्पर्य सौंदर्यबोध के नौ स्वरूपों या स्वभावों से है, जैसे वीर *रस*, श्रृंगार *रस*, करुण *रस*, इत्यादि। प्रत्येक संस्कृत काव्य-रचना की कृति को इनमें से कम से कम किसी एक से अभिपूर्ण होना आवश्यक था।

उदाहरण के लिए, वाल्टर स्लेज ने इस काव्य रचना की प्रस्तावना या पूर्वलेख के अपने विश्लेषण में *राजतरंगिणी* द्वारा किसी ऐतिहासिक ध्येय से अधिक सौंदर्यबोध तथा अंततः *मोक्ष* (संसार चक्र से मुक्ति) के उद्देश्य के अनुसरण का तर्क दिया है। वह *शांत रस* या संतुलन की अवस्था के प्रयोग का संकेत करते हैं जिससे अपनी रचना को परिपूर्ण करने का कल्हण का दावा है तथा जो इस भाँति पाठक के लिए *मोक्ष* या मुक्ति की प्राप्ति संभव बनाएगा। उनका कहना है कि कश्मीर के अतीत के राजाओं के जीवन के वर्णन के माध्यम से यही कल्हण का मुख्य ध्येय था। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक यथार्थ की अपील *राजतरंगिणी* के लिए एक आवश्यक माध्यम है किंतु सौंदर्यबोध के प्रभाव में वृद्धि करने का एक माध्यम मात्र, जैसा कि सत्य के लिए की गई अपील कर सकती है। लॉरेंस मैकक्री भी *शांत रस* पर ध्यान केंद्रित करते हैं लेकिन यह सुझाव देते हैं कि यह कल्हण का समय तथा इतिहास के चक्र के रूप में नैतिक पतन पर निराशावादी विश्वास था जिसने कल्हण को अपने कश्मीर के इतिहास के लिए इस शैली और साहित्यिक विशिष्टता का चुनाव करने को प्रेरित किया। इस प्रकार जहाँ स्लेज *राजतरंगिणी* के ऐतिहासिक पहलू को सौंदर्यबोध-संबंधी उद्देश्यों के अधीन और उन्हें पूर्ण करने का ज़रिया मानते हैं वहीं मैकक्री ठीक इसके विपरीत तर्क रखते हैं।

बोध प्रश्न-2

1) *राजतरंगिणी* के इतिहासलेखन संबंधी मूल्यांकन का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

2) कल्हण की *राजतरंगिणी* के अध्ययन-संबंधी नवीन दृष्टिकोण क्या हैं?

.....

.....

.....

6.7 इतिहास के रूप में काव्य

शोनालिका कौल (2014, 2018 क) द्वारा की गई *राजतरंगिणी* की विस्तृत पुनर्व्याख्या दर्शाती है कि संस्कृत काव्य शैली में इतिहास के रूप में काव्य की एक सुस्पष्ट सैद्धांतिक स्थिति थी जिसे प्राक्-आधुनिक विश्व में प्रचलित ऐतिहासिक प्रविधियों पर चिंतन करते हुए ध्यान में रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धांत का प्रयोग एक ऐसे नैतिक-राजनीतिक विमर्श के विकास में निहित रहा जो इतिहास-संबंधी ज्ञान की समझ का निर्धारण करता है और इसे परिभाषित करता है कि एक संस्कृति-विशेष, तथापि सार्वभौमिक स्वरूप की संभावना के साथ, में समय तथा मानव कर्मों का यथार्थ ज्ञान किस स्वरूप का होना चाहिए।

कौल दीर्घ काल से चली आ रही तथा संजोयी गई परम्परा की ओर संकेत करती हैं जिसके अनुसार *कवि* एक *ऋषि* की भाँति था जिसके पास आध्यात्मिक सर्वज्ञता तथा दिव्यदृष्टि होती थी। इन शक्तियों के साथ, जो काव्य-संबंधी सहज बोध (poetic intuition; *प्रतिभा*) से उत्पन्न होती थीं, वह वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति को जान सकता था और समय के विभिन्न आयामों को भी समझ सकता था – 'जिनके विषय में इससे पूर्व कोई नहीं जान सका था'। ज्ञान-मीमांसा प्राधिकार (epistemic authority) का यह दावा यद्यपि रूढ़िगत था किंतु यह कवि को बीते हुए विषयों के संबंध में चर्चा करने हेतु सक्षम बनाता था, जैसा कि कल्हण के बाद के एक कवि ने काव्य को 'ऐसा दीप कहा है जो अतीत के यथार्थ को प्रकाशित करता है (*काव्यदीपम भूतवस्तु प्रकाशनम्*)'।

इस शैली की स्वयं की समझ को प्रतिध्वनित करते हुए कल्हण लिखता है कि एक सुकवि की प्रकाशमयी कृति के बिना यह दुनिया अंधकार में रहेगी (*सत्कविकृत्याम अंधम जगत्त्वम*) (*राजतरंगिणी* 1.47)। विशेषकर, राजाओं के सद्कर्म हमेशा के लिए अज्ञात रहेंगे यदि कवि न हों जो उनके गौरव को नवजीवन देते हैं, सजीव बना देते हैं तथा उसकी मिसाल पेश करते हैं। कल्हण लिखता है:

> विख्यात (तथा शक्तिशाली) राजा याद भी नहीं रखे जाएँगे बिना कवि की रचना की कृपा व आश्रय के जो उदात्त होती है तथा जिस पर हम श्रद्धा प्रकट करते हैं (*राजतरंगिणी* I-46)।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन कथनों में हम कवियों के ज्ञान-मीमांसा प्राधिकार का ठोस आग्रह पाते हैं। लेकिन यह इतना ही नहीं है। अतीत तथा उसके ज्ञान का वाचन करने के एक अत्यंत सृजनात्मक दृष्टिकोण के रूप में कवि को न केवल अतीत का ज्ञान रखने वाला माना गया है बल्कि अतीत का 'निर्माता' भी समझा गया है। अतः कल्हण ने उसे *कवि-प्रजापति* या *कवि-वेधा* भी कहा है, अर्थात् कवि-निर्माता (*राजतरंगिणी* 1.4)। वह लिखता है: 'कवि-निर्माता (poet-creator) के अतिरिक्त बीते हुए युगों को दृश्यमान (*प्रत्यक्षतम्*) बनाने में कौन सक्षम है जो मनोहारी सृजन (*रम्यनिर्माण*) करता हो?' पुनः यहाँ अगोचर अतीत को बोधगम्य बनाने – जो इतिहास की अनिवार्य विशेषता है – की कवि की सृजनात्मक क्षमता पर संस्कृत *काव्य* का विश्वास प्रकट होता है और यह वास्तव में अतीत पर ऐसी टिप्पणी है जो इसे निर्माण या सृजन के रूप में देखती है।

6.8 नैतिक/नीतिपरक निर्देश के रूप में इतिहास

कौल का तर्क है कि कवि की इतिहास तक वास्तविक पहुँच विभिन्न प्रकार के मानवीय उद्देश्यों और विषयों के संबंध में उपदेश प्रदान करने, जैसे पुण्यशीलता (*धर्म*), शक्ति/सत्ता (*अर्थ*) और आनंद (*काम*) के संबंध में, हेतु काव्य की उपदेशात्मक भूमिका से प्रभावित होती है। *राजतरंगिणी* जैसे ग्रंथ के लिए उपदेशों का विशेष विषय राजनीतिक आचरण (*राजधर्म*) था। इस प्रकार *राजतरंगिणी* का मुख्य उद्देश्य मात्र कश्मीर के अतीत का तथ्यपरक ब्योरा देना नहीं था बल्कि एक नैतिक/नीतिपरक (ethical) तथा तार्किक (discursive) आयाम में अभिव्यक्त होने वाले राजनीतिक विचार-विमर्श के रूप में कश्मीर का निरूपण करना था।

अतः, शासन और राजत्व का मूल्यांकन *राजतरंगिणी* में कुछ निश्चित नैतिक सिद्धांतों के आधार पर हुआ है। सदाचार, धर्मपरायणता, उदारता/विनम्रता, नीर-क्षीर का विवेक जो गलत और सही के अंतर को बता सके और जो गुणीजनों, सुचरित्रों और विद्वतजनों को प्रोत्साहन दे, और धर्म का पालन करवाने की इच्छा-शक्ति तथा प्रजा के बीच भय की अनुपस्थिति – ये निजी तथा राजनीतिक मूल्यों के श्रेष्ठ आचारों की वह सूची थी जिससे नैतिक व्यवस्था की ऐसी संकल्पना बनी हुई थी जिसके प्रति राजा की प्रतिबद्धता की आशा की जाती थी।

इसके पश्चात् इन मूल्यों को उदाहरणों तथा प्रतिमानों के एक सिलसिले में पेश किया गया था जिन्हें कल्हण ने कश्मीर के पूर्व राजाओं में खोजा था। उन्हें युग्मों में चिह्नित करते हुए उनकी नैतिकता पर तुलनात्मक दृष्टि डाली गई थी। इस तरह आनंदवादी राजा विभीषण के सिंहासन का उत्तराधिकार उसके नैतिकतावादी पुत्र सिद्ध को मिला। हिंसक राजा मिहिरकुल के बाद धर्मपरायण राजा बक राजसिंहासन पर बैठा। न्यायपूर्ण राजा चंद्रपीड की उसके अत्याचारी पुत्र तारापीड द्वारा हत्या कर दी गई जो उसके राजसिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ और भ्रष्ट पिता-पुत्र कलश तथा हर्ष के बाद श्रेष्ठ बुद्धि का स्वामी उच्छल राजा बना। ये सभी ऐतिहासिक राजा थे जिनके बीच सदियों की दूरी थी किंतु वे कवि की व्याख्या की योजना में परस्पर जुड़े हुए थे।

वस्तुतः अपनी ग्रंथीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि के केंद्रीय सिद्धांत की कल्हण अपनी कृति की शुरुआत में ही उद्घोषणा करता हैः

> समय-समय पर प्रजा के आध्यात्मिक प्रताप एवं योग्यता से ऐसे राजा प्रकट होते हैं जो अव्यवस्था में गहरे डूबे राज्य को व्यवस्थित करते हैं। वे जो अपनी प्रजा के उत्पीड़न पर आमादा होते हैं अपने कुटुंबों व सहबंधियों सहित नष्ट हो जाते हैं; दूसरी ओर, भाग्य दास बन जाता है उनके वंशजों का भी जो वहाँ फिर से व्यवस्था स्थापित करते हैं जहाँ अराजकता होती है... यह (है) प्रत्येक वृत्तांत का लक्षण (*प्रतिवृत्तातम लक्षणम*)... ***राजतरंगिणी* I.187-89**

इस प्रकार, इसके द्वारा दर्ज किए गए तथ्यों और तिथियों मात्र के लिए व्याख्या करने के बजाय संपूर्ण '*राजाओं की नदी*' को नैतिक दृष्टांतों की धारा के रूप में देखा जा सकता है। ग्रंथ और समय की यह योजनागत व्यवस्था, जो कवि के इतिहास-संबंधी नैतिकतावादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है, ध्यान खींचने वाली है। यहाँ *राजतरंगिणी* ऐतिहासिक तथ्यों के आख्यायीकरण या एक कथानक के ढाँचे के चारों ओर उनके बुने जाने का आभास देती है जो अन्यथा बेतरतीब (random) तथ्यों को एक समरूप संरचना और अर्थ प्रदान करते हैं। इस प्रकार यह मात्र सिलसिलेवार प्रस्तुति से ऊपर उठ जाती है। इस ग्रंथ का इस तरह किया गया पाठ हेडन व्हाइट के कथात्मक आख्यान के रूप में इतिहास के उत्तर-आधुनिक (post-modern) सिद्धांत की अभिपुष्टि करता है। *राजतरंगिणी* का यह कथात्मक स्वरूप अतीत-संबंधी कवि के दृष्टिकोण को साकार करता है, उस अतीत को सांस्कृतिक रूप से मान्य अर्थ प्रदान कर प्रारंभिक भारत में ऐतिहासिकता की गहन समझ को सामने लाता है।

इस परंपरागत समझ में उपदेशात्मक तथा ऐतिहासिक प्रकार्य काव्य के माध्यम से आपस में मिल जाते हैं। परिणामस्वरूप, इसका अर्थ निकलता है कि *राजतरंगिणी* ने ज्ञानशास्त्रीय (epistemic) सत्य की जिस प्रासंगिक प्रविधि को गढ़ा था वह अपने समय में निरपेक्ष, उच्चतर नैतिक साध्य का आह्वान करने में तथा समय सापेक्ष, जितना कि यह अपने संदर्भ से जुड़े ऐतिहासिक अतीत में स्थित थी, दोनों है।

इसके अतिरिक्त *राजतरंगिणी* उपदेशपरायणता की एक बृहत्तर आलोचना भी पेश करती है। उदाहरण के लिए, राजकीय संप्रभुता तथा मानव जीवन की नश्वरता का संकेत करते हुए। राजत्व के ऐश्वर्य और विशेषाधिकार की क्षणिकता पर नैतिक व नश्वरवादी दृष्टि डालते हुए कवि कहता हैः

> शायद ऐसा कोई मानव नहीं होगा जिस पर पहले कृपादृष्टि (राजाओं के हृदय को प्रिय राजलक्ष्मी की) रही हो, बाद में उसने उससे छल न किया हो, जैसा कि अधम की मित्रता में होता है... वह, जो स्नेह से विहीन है, जिसने राजाओं की मृत्यु पर उनका अनुगमन कभी नहीं किया है, जब वे मित्रों तथा आहार के बिना ही परलोक के मार्ग पर होते हैं ... राजभोज के स्वर्ण पात्र तथा राजकोष में संग्रहित अन्य वस्तुएँ – क्यों वे राजा जो दूसरे लोक की यात्रा पर निकल चुके हैं इनका स्वामित्व (अब नहीं) धारण करते हैं?... गले से छीन लिए गए उन (शत्रुओं) के जो मरणासन्न है... कंठाहार, अभिशप्त और अपवित्र, किसके लिए आकर्षक हैं? जो आभूषण पूर्वजों ने छोड़े हैं, मृत्यु निकट देख हुई पीड़ा से निकले आँसुओं से दूषित; इनको स्पर्श करते हुए किसे संताप नहीं होता है?

> मृत्यु के इस एक ही मार्ग पर व्यक्ति उल्टा लटका हुआ है। मैं डूबता हूँ और वह दूसरा डूबने वाला – विभेद का यह विचार (दोनों के बीच) दृश्यमान होता है किंतु क्षणिक ही ... वह जो कल अपने शत्रु का वध करते हुए आनंद में था अंत में जब वह स्वयं मारा जाने वाला होता है अपने ऊपर चढ़े हुए शत्रु को देखता है, कितना वीभत्स है! इस भ्रम पर धिक्कार है
>
> ***राजतरंगिणी* V.6-15, VIII.358-59**

मनुष्य जीवन तथा मानवीय कृत्यों की नश्वरता और क्षणिकता को स्वयं समय की प्रकृति तथा इसके चिरस्थायी गुण अर्थात परिवर्तन पर *राजतरंगिणी* को बखान के रूप में देखा जा सकता है। समय की इस आधारभूत ऐतिहासिक विशेषता का संज्ञान इस ग्रंथ को यह स्वरूप प्रदान करता है कि इसकी शुरुआत ही स्वयं को ऐसे संतुलनकारी उपचार, एक विषहर (antidote) औषधि की भाँति बताने से होती है उन राजाओं के लिए जो संपन्नता या विपन्नता में विभिन्न देशकालों में (*नृपानाम उल्लासे हर्षे वा देशकालयो*) परिवर्तन से आक्रांत रहते हैं (*राजतरंगिणी* I-21)। इस तरह एक निश्चित प्रकार की सार्वभौमिकता तथा अपरिहार्यता इस दृष्टिकोण में इतिहास की दिशा में साथ-साथ बनी रहती है ।

कल्हण की महान् कृति में ऐतिहासिक यथार्थ की ऐसी समझ देखने को मिलती है जिसमें दिव्य तथा सांसारिक, लोकोत्तर तथा लौकिक आपस में गुथे हुए थे, इस सभ्यता द्वारा इतिहास की विधा का जो विशिष्ट सांस्कृतिक प्रकार्य तथा उद्देश्य निरूपित किया गया है उसको ध्यान में रखते हुए। भारतीय ऐतिहासिक पद्धतियों को इस व्यापक अर्थ में ग्रहण करना और समझना होगा। प्रारंभिक भारत के लिए मात्र तथ्य ही सर्वोच्च नहीं थे तथा निश्चित रूप से सत्य का अंतिम वाक्य नहीं थे; नीतिपरक यथार्थ तथा सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दुर्बलताओं से पार पा जाना इतिहास को अभिलिखित और सुरक्षित रखने का एक बड़ा उद्देश्य था।

बोध प्रश्न-3

1) '*राजतरंगिणी* का प्रधान उद्देश्य मात्र कश्मीर के अतीत का तथ्यपरक ब्योरा देना नहीं था बल्कि एक नैतिकतावादी उपागम में अभिव्यक्त होने वाले राजनीतिक विचार-विमर्श के रूप में कश्मीर का निरूपण करना था'। टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

2) 'इतिहास नैतिक उपदेश प्रदान करता है'। *राजतरंगिणी* के संदर्भ में टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

6.9 सारांश

यह इकाई भारत में समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा की उपस्थिति पर प्रकाश डालती है, इस विश्वास के विपरीत कि भारत का स्वयं में कोई इतिहास नहीं रहा है। *राजतरंगिणी* भारत में समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा का संकेत करती है। प्रस्तुत इकाई में *राजतरंगिणी* का समालोचनात्मक विश्लेषण किया गया है जो संस्कृत की महाकाव्य (*प्रबंध*) शैली में लिखी गई है। कल्हण के पास समय तथा कालक्रम का अपना एक स्पष्ट विचार था। उसने उस समय के ताम्रपत्र अभिलेखों (*शासन*) के रूप में उपलब्ध सभी दस्तावेज़ों का उपयोग भी किया। उसने यह भी स्वीकार किया है कि उसकी कृति ही इस प्रकार की एकमात्र कृति नहीं है बल्कि ऐसी ही कम से कम 11 रचनाओं का अतीत में सृजन हुआ था। उसने इन ग्रंथों से सहायता लेना स्वीकारा है। कल्हण घटनाओं को कारण-प्रभाव के रूप में देखता है। वह राजाओं के अच्छे तथा बुरे, दोनों, कर्मों को नितांत तटस्थता के साथ बताता है। *राजतरंगिणी* केवल कुलीनों की ही चर्चा नहीं करती है बल्कि सामान्य जन भी *राजतरंगिणी* में समान स्थान पाते हैं। यह ग्रंथ यह सीख भी देता है कि ऐतिहासिक ग्रंथों का केवल तथ्यों की उपस्थिति के आधार पर मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। इसके बजाय इसे व्यापक संदर्भ में रखकर समझना चाहिए जो अलौकिक और लौकिक, दोनों, पर प्रकाश डालता है।

6.10 शब्दावली

शासन एक राजसी लेख या राजकीय आदेश। ये सामान्यतः अभिलेखों/उत्कीर्ण लेखों के रूप में ताम्रपत्रों या शिलाओं पर उत्कीर्ण किए हुए पाए जाते हैं

कलियुग हिंदू युग चक्र में अंतिम युग। इससे पूर्व *द्वापर*, *त्रेता* और *कृत* (*सत्य*) युग आते हैं

शक संवत *शक संवत* की उत्पत्ति का विषय अत्यंत विवादित रहा है। इसकी शुरुआत को अब व्यापक रूप से राजा चश्तन (Chashtana) के सिंहासनारोहण (78 सी ई) से जोड़ा जाता है जिसने गुजरात के कच्छ क्षेत्र में शासन किया था

6.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 6.3

2) देखें भाग 6.4

3) देखें भाग 6.4

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 6.5

2) देखें भाग 6.6

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 6.7

2) देखें भाग 6.8

6.12 संदर्भ ग्रंथ

बाशम, आर्थर लेवेलिन, (1961) 'द कश्मीर क्रॉनिकल', सी. एच. फ़िलिप्स (संपा.), *हिस्टॉरीयंस ऑफ़ इंडिया, पाकिस्तान एंड सीलोन* (लंदनः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 57-65.

कॉक्स, व्हिटनी, (2013) 'लिटरेरी रेजिस्टर एंड हिस्टॉरिकल कॉन्सिएशनेस इन कल्हणः अ हायपोथीसिस', *इंडियन एकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 50, 2, पृ. 131-60.

कौल, शोनालिका, (2018 क) *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली कश्मीरः लैंड्स्केप एंड आयडेंटिटी इन द राजतरंगिणी* (दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

कौल, शोनालिका, (2018 ख) 'हिस्टॉरिकल मैथड्ज', पंकज जैन तथा अन्य द्वारा संपा., *एन्सॉइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन रिलीजंस, हिंदूइज़्म एंड ट्राइबल रिलीजंस* (न्यूयॉर्कः स्प्रिंगर).

मैकक्री, लॉरेन्स, (2013) 'शांत रस इन द *राजतरंगिणी*ः हिस्ट्री, एपिक एंड मॉरल डिके', *इंडियन एकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 50, 2, पृ. 179-99.

मजूमदार, रमेश चंद्र, (1961) 'आइडियाज़ ऑफ़ हिस्ट्री इन संस्कृत लिटरेचर', सी. एच. फ़िलिप्स (संपा.), *हिस्टॉरियंस ऑफ़ इंडिया, पाकिस्तान एंड सीलोन* (लंदनः ऑक्सफ़ार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 13-21.

स्लेज, वाल्टर, (2008) 'इन द गाइज़ ऑफ़ पोएट्रीः कल्हण रिकंसिडर्ड', वाल्टर स्लेज (संपा.), *शास्त्रारंभः एंक्वायरीज़ इंटू द प्रीऐम्बल इन संस्कृत* (वीज़बाडनः हरस्टोवित्ज़ वेर्लग), पृ. 207-44.

स्टाइन, मार्कस ऑरेल, (संपा. व अनु.) (1960 [1892, 1900]) *कल्हणस राजतरंगिणी ऑर क्रॉनिकल ऑफ़ द किंग्स ऑफ़ कश्मीर*, संस्करण 2 (दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल [प्रथम संस्करण, बम्बई]).

थापर, रोमिला, (1983) 'कल्हण', मोहिबुल हसन (संपा.), *हिस्टॉरियंज़ ऑफ़ मिडीवल इंडिया* (दिल्लीः मीनाक्षी प्रकाशन), पृ. 52-62.

थापर, रोमिला, (2014) *द पास्ट बिफ़ोर असः हिस्टौरिकल ट्रडिशंज़ ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इंडिया* (रानीखेतः परमानेंट ब्लैक).

व्हाइट, हेडेन, (1987) *द कॉटेंट ऑफ़ द फ़ॉर्मः नैरटिव डिस्कोर्स एंड हिस्टॉरिकल रेप्रेज़ेंटेशन* (बाल्टीमोर और लंदनः जॉन हॉपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस).

विल्सन, हेरोल्ड एच., (1825) 'एन एसे ऑन द हिंदू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर', *एशियाटिक रिसर्चेज*, 15, पृ. 1-119.

6.13 शैक्षणिक वीडियो

राजतरंगिणीः रिवर ऑफ़ किंग्स
https://www.youtube.com/watch?v=6VUyyuUn-AU

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY